पंचम अध्याय

अमृतलाल नागर और गंगाप्रसाद मिश्र के कथा-साहित्य में सम-सामयिक लखनऊ

पंचम अध्याय

अमृतलाल नागर और गंगाप्रसाद मिश्र के कथा-साहित्य में समसामयिक लखनऊ व उसकी प्रासंगिकता

१.१ कथा-साहित्य में सम-सामयिकता और प्रासंगिकता

१.२ अमृतलाल नागर के कथा-साहित्य में सम-सामयिक लखनऊ व उसकी प्रासंगिकता

१.३ नागरजी के उपन्यासों में सम-सामयिक लखनऊ व उसकी प्रासंगिकता

१.४ अमृतलाल नागर की कहानियों में सम-सामयिक लखनऊ और उसकी प्रासंगिकता

१.५ गंगाप्रसाद मिश्र के कथा साहित में सम-सामाजिक लखनऊ व उसकी प्रासंगिकता

१.६ गंगाप्रसाद मिश्र की कहानियों में सम-सामयिक लखनऊ और उसकी प्रासंगिकता

१.७ गंगाप्रसाद मिश्र की कहानियों में लखनऊ

१.८ निष्कर्ष

१.९ संदर्भ

पंचम अध्याय

अमृतलाल नागर और गंगाप्रसाद मिश्र के कथा-साहित्य में समसामयिक लखनऊ व उसकी प्रासंगिकता

१.१ कथा-साहित्य में सम-सामयिकता और प्रासंगिकता

प्रत्येक साहित्यकार अपने समय और समाज को अपने कथा-साहित्य का विषय बनाकर वह अपने समय के यथार्थ-जीवन को प्रस्तुत करता है। यदि वह ऐतिहासिक या पौराणिक काल के चरित्रों या कथाओं, मिथकों आदि को अपने कथा-साहित्य का विषय बनाता है, तो एक रचनाधर्मी के नाते उसकी कोशिश होती है कि उसके पूरा-कालीन विषय से जुड़ा लेखन, वर्तमान समय में भी अपनी प्रासंगिकता सिद्ध कर रहा हो!

अमृतलाल नागर ने अपने अधिकांश उपन्यासों और कहानियों में अपने जीवन-काल से ही विषय, कथ्य एवं चरित्र उठाए हैं। इसके विपरीत 'मानस का हंस', 'खंजन नयन', 'सात घूँघट वाला मुखड़ा', 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर' और 'एकदा नैमिषारण्ये' जैसे उनके उपन्यास, जो या तो जीवनीपरक है या इतिहास के कालखण्ड से जुड़े हुए हैं। परन्तु उनके अन्य उपन्यास वर्तमान कथा-समय और उसमें साँस लेते लखनऊ और कुछ कथा निवेश में देश और विदेश तक के जन-जीवन को समेटते है। नागरजी के उपन्यासों पर आगे चर्चा की जाएगी।

अमृतलाल नागर की अधिकांश कहानियाँ उनके जीवन के कालखण्डों से जुड़े सम-सामयिक समाज को अपना विषय बनाती हैं।

श्री गंगाप्रसाद मिश्र ने अपवाद स्वरूप ही ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियाँ और सारे उपन्यास उनके स्वयं के जीवन से जुड़े समय और समाज को अपना विषय बनाते हैं। उनकी ऐसी सारी रचनाओं में लखनऊ और उसका समय, समाज तथा चरित्र ही उभर करके आये हैं।

अमृतलाल नागर और गंगाप्रसाद मिश्र के साहित्य में सम-सामयिक लखनऊ और उनकी प्रासंगिकता को क्रमशः आगे विवेचित करेंगे।

१.२ अमृतलाल नागर के कथा-साहित्य में सम-सामयिक लखनऊ व उसकी प्रासंगिकता

हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार और कहानीकार श्री अमृतलाल नागर का जन्म मात्र आगरा में हुआ। उनका शैशव, बचपन, किशोरकाल और युवावस्था का पूर्वाद्ध पूरी तरह लखनऊ के चौक क्षेत्र में जिया, देखा और भोगा हुआ है। १९४० से १९४७ तक के लगभग ८ वर्ष उन्होंने अधिकांशतः मुंबई और कुछ मद्रास में हिंदी फिल्मों के लेखन और कुछ फिल्मों की डबिंग करने तथा संवाद आदि लिखने में बिताये हैं।

इसके पश्चात वह पुनः लखनऊ आ गए और मृत्यु-पर्यंत लखनऊ में ही रचनारत रहे। मुंबई में रहते हुए यद्यपि उन्होंने स्फुट रूप से ही साहित्य-लेखन किया किन्तु; साहित्य का वह स्फुट-लेखन भी उनके गम्भीर-कृतित्व का प्रमाण है। उस प्रवास-काल में अमृतलाल नागर ने मुख्यत: 'महाकाल' उपन्यास लिखा। यह १९४४ के दौर में बंगाल के दुर्भिक्ष को केंद्र में रखकर लिखा गया उनका यथार्थवादी और पहला उपन्यास है। इसी दौर के स्फुट-लेखन में उन्होंने 'सेठ बाँकेमल' भी लिखा है।

१.३ नागरजी के उपन्यासों में सम-सामयिक लखनऊ व उसकी प्रासंगिकता

अब हम नागरजी के उपन्यासों के वर्ण्य-विषय के साथ ही उनमें लखनऊ के सम-सामयिक प्रासंगिकता की उपस्थिति को भी रेखांकित करेंगे-

(१.) महाकाल :

नागरजी का 'महाकाल' उपन्यास (कालांतर में यह 'भूख' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है) बंगाल के दुर्भिक्ष पर लिखा गया है। इसके कालखंड में नागरजी भी बंगाल गए और उस दुर्भिक्ष की भयावहत: को न केवल अपनी आँखों से देखा बल्कि; सारा कुछ बहुत नजदीक से अनुभव भी किया था। मुख्यतः बंगाल का दुर्भिक्ष ही इस उपन्यास का मुख्य विषय है।

'महाकाल' के 'कथा-प्रवेश' में अमृतलाल नागर ने लिखा है- "रईस ने वर्षों के खाने का इंतजाम कर लिया, मध्यवर्गीय नौकर-पेशा गृहस्थों ने अपनी शक्ति के अनुसार दो-तीन महीने में लगकर छः महीने तक की खुराक जमा कर ली। खेतिहर मजदूर भूख से लड़ने लगा।"[1] नागरजी कृत इस उपन्यास और बंगाल के दुर्भिक्ष की भयावहता को देखें तो २०२०-'२१ में अकाल के बिना ही कोरोना की महामारी से मृत्यु के ग्रास बने अभाग्यवानों के मुकाबले, जो कोरोना काल

में 'जी' रहे थे, वे भी हमेशा मृत्यु के भय से डरे रहते थे। अस्तु; अकाल की तरह महामारी भी मनुष्य को दुर्भिक्ष जैसी स्थितियों के बीच ला छोड़ती है। "बंगाल के अकाल में लगभग ३५-४० लाख लोग मारे गए।"[2] उपरिलिखित कोरोना-काल को देखें तो देश में करोड़ों लोग मृत्यु के मुँह में समा गए।

यह पूरे मनुष्य-समाज को इस बात के लिए सचेत करता है कि चाहे दैवी या प्राकृतिक प्रकोप हो, दुर्भिक्ष जैसी भयावह स्थितियों से मनुष्य को हर संभव कोशिश करके बचाया जाना चाहिए। नागरजी की इस कृति में समाहित सम-सामयिकता में यह प्रासंगिकता संदेश के रूप में अंतर्निहित है।

(२.) सेठ बाँकेमल :

'सेठ बाँकेमल' छोटे-छोटे हास्य-व्यंग्य के प्रसंगों के माध्यम से रचित एक तरह की प्रयोगात्मक कृति है। कुछ लोग इसे 'उपन्यास' मानते हैं, जबकि स्वयं नागरजी इसको अपनी व्यंग्यात्मक-कृति ही मानते हैं। यह 'सेठ बाँकेमल' और चौबेजी के पुत्र के जीवन के संस्मरणात्मक कथा से परिपूरित है। हिंदी में यह अपनी तरह की शैली और शिल्प की अनूठी कृति है। इसकी भाषा मुख्यत: ब्रजक्षेत्र की बोलचाल की भाषा है। इसमें नागरजी का यह लेखकीय-कौशल उभर करके आया है कि वह जीवन की पीड़ा और गंभीर मन:स्थितियों के जितने कुशल चितेरे हैं, उतने ही कुशल चितेरे वह हास्य-व्यंग के भी हैं। 'सेठ बाँकेमल' की प्रासंगिकता यह है कि दो जीवंत और यथार्थ चरित्रों को अपनी कृति का माध्यम बनाकर नागरजी वर्तमान से संबंधित अतीत को भी 'सेठ बाँकेमल' में प्रासंगिक बना देते हैं। रामविलास शर्मा ने नागरजी के लेखकीय-कौशल के संबंध में ठीक ही लिखा है, "वह हास्य-रस के जाने-माने लेखक हैं। हास्य के लिए हुए आस-पास के सामाजिक जीवन से आलंबन ही नहीं चुनते, पौराणिक गाथाओं और भटियारिनों के किस्से, कहानियों का भी सहारा लेते हैं।"[3]

(३.) नवाबी मसनद :

'नवाबी मसनद' अमृतलाल नागर के कहानी-लेखन के दौर में लिखी गई है। यह भी हास्य-व्यंग्य की बहुत प्रायोगिक और मौलिक कृति है, जिसे नागरजी अपनी व्यंग्य-रचना ही मानते हैं। परन्तु कुछ लोग इसे उपन्यास भी मानते हैं। नागरजी ने इसे हास्य-व्यंग्य की पत्रिका 'चकल्लस'

में (दिसंबर १९३७ से मई १९३८ तक) में नियमित-स्तंभ के रूप में 'तस्लीम लखनवी' के नाम से लिखा था। इसकी लखनवी-बोलचाल और लहजे की उर्दू-भाषा ऐसी थी कि लोग मानते रहे कि 'नवाबी मसनद' कोई उर्दू-दाँ लिख रहा है। वास्तविकता यह है कि 'चकल्लस' के हर अंक के लिए एक स्तंभ के रूप में स्वयं नागरजी इसे लिख रहे थे। अमृतलाल नागर ने 'नवाबी मसनद' की भूमिका में लिखा है- "सन १९३७ में 'चकल्लस' चबूतरे पर यह 'नवाबी मसनद' आबाद हुई थी।....सड़क के जिस मकान में मेरे 'चकल्लस' अखबार का दफ्तर था, उसके नीचे ही खुदा बख्श तंबाकू मौला पहलवान और उनके साझेदार प्यारे साहब ड्राइवर की बरफ की दुकान थी....कुछ सब्जी-फरोश कुनबों की दुकानें भी थीं। खुदाबख्श के बेटे कादिरबक्श....रंगीन तबीयत के आदमी थे, कबाड़िनों के कन्हैया। 'चकल्लस' के दफ्तर के नीचे इन दुकानों और फुटपाथ की दुनिया कादिर मियाँ की मस्ती से खुशरंग रहती थी। मौला पहलवान और प्यारे साहब भी मुजस्सिन, याजूज-माजूज की जोड़ी ही थे। एक कुश्तिया-पहलवान तो दूसरे अक्ल के अखाड़े के खलीफा। 'अवध अखबार' की खबरों के परखच्चे उड़ाए जाते; आस-पास की बातों पर होने वाली बहसों में लाल-बुझक्ड़ी लाजिक के ऐसे-ऐसे कमाल नजर आते कि दिल बाग-बाग हो जाता था।

"इन्हीं दिनों; शायद 'चकल्लस' निकालने से कुछ समय पहले मैंने एक पुराने अफीमची किस्सा-गो नब्बू मियाँ से उर्दू की बहुत पुरानी किताबें पढ़वाकर सुनी थीं। सरशार का 'फिसाना-ए -आजाद' भी पूरा सुना। प्रेमचंद का किया हुआ उसका संक्षिप्त अनुवाद 'आजाद कथा' भी पहले पढ़ चुका था। 'चकल्लस' के पास हरदम तैयार होकर जैसे कुल जमा तीन लेखक थे-- नरोत्तम नागर, रामविलास शर्मा और अमृतलाल नागर! तरह-तरह के तखल्लूस रखकर हमलोग 'चकल्लस' के मैटर की मजलिसें जुटाते थे।"[4]

उपरिलिखित पंक्तियों में यों तो नागरजी ने 'नवाबी मसनद' की पूरी पृष्ठभूमि बता दी है। परन्तु निम्नांकित पंक्तियों से 'नवाबी मसनद' लिखने का मकसद और उसकी विषय-वस्तु का खुलासा हो जाएगा कि बतौर 'तस्लीम लखनवी' अमृतलाल नागर किस तरह एक जगह अड्डा जमाकर पतनशील नवाबी-दौर की असलियत उजागर करते चल रहे थे- "चकल्लस के लिए ही अपने कादिर, मौला और प्यारे साहब की सदाबहार महफिल में सरशार से उधार ली हुई कल्पना के नवाब साहब को शामिल करके 'तस्लीम लखनवी' तखल्लुस के साथ 'नवाबी मसनद' का

हफ्तेवारी दरबार कायम हुआ।"[5]

'नवाबी मसनद' की प्रासंगिकता यह है कि इसे पढ़ते हुए अब से ८०-८५ बरस पहले नागरजी द्वारा उद्घाटित नवाबी दौर के पतनशील लखनऊ से हम रू-ब-रू हो सकते हैं, तो साथ ही आज के सामाजिक, राजनीतिक और वैश्विक परिदृश्य में हमारा समय समाज और हमारे समय की दुनिया भी कहीं न कहीं नागरजी पर 'नवाबी मसनद' से मुठभेड़ कर रही है।

(४.) बूँद और समुद्र :

श्री अमृतलाल नागर का उपन्यास 'बूँद और समुद्र' उन्हें साहित्य में प्रतिष्ठित करने वाली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण औपन्यासिक-कृति है। यह हिंदी के महाकाव्यात्मक उपन्यासों में भी गिना जाता है। इसकी भूमिका में नागरजी ने लिखा है- "इस उपन्यास में मैंने अपना और आपका; अपने देश के मध्यवर्गीय नागरिक-समाज का, गुण-दोष भरा चित्र ज्यों का त्यों आँकने का यथामति-यथासाध्य प्रयत्न किया है।"[6] 'बूँद और समुद्र' नगरीय-आंचलिकता का उपन्यास है। इसमें नागरजी ने लखनऊ, खासतौर से लखनऊ के 'चौक' के पात्रों, चरित्रों और उनके जीवन को अपने कथानक के रूप में ग्रहण किया है। नागरजी लिखते हैं- "यह इसलिए किया कि नागरिक-सभ्यता की परंपरा देखने में, बोली-बानी का रंग खोलने में मुझे सबसे अधिक सुभीता यही हो सकता था कि एक तरफ जहाँ शहर का 'असलीपन' दर्शाने के लिए मैंने यहाँ के अनेक नए-पुराने नागरिकों, अखबारों, संस्थाओं और स्थलों के वर्णन किए हैं; यही नहीं बल्कि; कथाक्षेत्र के काल में नगर में होने वाली बहुत-सी घटनाओं का जिक्र किया है। वहाँ ही सारा चित्रण कहानी में गुँथकर बेलौस भी है।"[7]

अमृतलाल नागरजी ने जैसा कि ऊपर कहा है कि यह उपन्यास लखनऊ के उनके 'चौक' क्षेत्र के परिसीमन से जुड़ा हुआ है। यथार्थ लगने वाले चरित्र यहाँ यथार्थ होकर भी नागरजी के चरित्र-चित्रण में वही बिल्कुल नहीं रह गए हैं, जो कि वह मूल-चरित्र के रूप में रहे हैं। इसी तरह इस उपन्यास में बहुत सारे चरित्र ऐसे हैं, जो नितान्त-काल्पनिक हैं। परन्तु नागरजी के लेखन-कौशल से यह आज भी चौक के बाजार या गलियों में देखने में आ जाएँ तो आश्चर्य का विषय नहीं है। इस उपन्यास की 'ताई' ऐसा चरित्र है, जैसे- समाज में दिखलाई तो पड़ते हैं किन्तु; इतने जीवन्त वे नहीं होते, जितना कि नागरजी ने 'बूँद और समुद्र' में 'ताई' को अप्रतिम-चरित्र के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। उनमें कितना आक्रोश और कितना गुस्सा है! जिसका अहित करना है,

उसके प्रति विद्वेष से 'ताई' लवरेज हैं लेकिन; बिल्ली के बच्चों के साथ उनका जैसा तादात्म्य उपन्यास में उपस्थित हुआ है, वह 'ताई' को अत्यंत सदय और मर्म को छू लेने वाले चरित्र के रूप में उभार कर रख देता है। अतः इस उपन्यास में सम-सामयिक जीवन और प्रासंगिकता, दोनों गुँथे हुए चलते हैं। 'बूँद और समुद्र' के यथार्थ में यदि एक ओर उपन्यास के कालखंड का पूरा समय अभिव्यंजित हुआ है तो उसी कालखण्ड के समाज और अनगिनत व्यक्तियों के जीवन से इस उपन्यास की प्रासंगिकता भी यथार्थपरक हुई है।

इस उपन्यास के बारे में प्रेमचंद के एक लेख का यह अंश बहुत प्रासंगिक है- "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।....सब आदमियों के चरित्रों में भी कुछ समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यही चरित्र से संबंधित समानता और विभिन्नता, 'अभिन्नत्व-भिन्नत्व' और 'विभिन्नत्व में अभिन्नत्व' दिखाना उपन्यास का मूल कर्तव्य है।"[८]

'बूँद और समुद्र' उपन्यास के बारे में प्रेमचंद का यह उद्धरण सटीक बैठता है। 'बूँद और समुद्र' उपन्यास को उसके पात्रों के चरित्र-विश्लेषण के माध्यम से अच्छी तरह समझा जा सकता है। 'बूँद और समुद्र' के पात्र स्त्री हों अथवा पुरुष, युवा हों चाहे वृद्ध, साधारण हों या असाधारण, राजनीतिक हों अथवा बुद्धजीवी; वे सभी पाठकों को संस्पर्शित किये बिना नहीं रहते। अपनी आत्मकथात्मक-कृति 'टुकड़े-टुकड़े दास्तान' में नागरजी ने लिखा है कि- "पांडिचेरी में रत्न बेचने वाला दलाल कैसे उन्हें सहसा लखनऊ के 'चौक' स्थित सर्राफों की याद दिला देता है।" तब नागरजी को लगता है कि सारा भारतवर्ष उनके चौक में ही रहता है। लखनऊ के चौक में सारा भारत महसूस करना नागरजी की ऐसी अनुभूति है, जो 'बूँद और समुद्र' को पुरे भारत के लिए प्रासंगिक बना देती है। यहाँ एक रोचक बात यह भी उल्लेखनीय है कि नागरजी अपने पहले उपन्यास का नाम 'बूँद और समुद्र' रखना चाहते थे पर मित्र मंडली के साथ बातचीत और बिचार -विमर्श में वह इस नतीजे पर पहुँचे कि वह दुर्भिक्ष केन्द्रित उपन्यास, जो प्रेस में छपने के लिए जा चुका था, रामविलास शर्मा से हुई चर्चा के बाद प्रकाशित होने चले गए उपन्यास का नाम अन्ततः 'महाकाल' रखा दिया। यह बात इस नाते कितनी मौजू और प्रासंगिक है कि एक लेखक अपने निश्चय के बजाय अपने मित्रों और आत्मियों की सलाह को महत्व देकर उपन्यास का नाम बदलने को महत्व देता है। यद्यपि बाद में दुर्भिक्ष केंद्रित नागरजी का 'महाकाल' उपन्यास, १९७० से 'भूख' शीर्षक से निरन्तर प्रकाशित हो रहा है।

'बूँद और समुद्र' का मुख्य-पात्र 'महिपाल' है, जो लेखक है। दूसरा प्रमुख-पात्र 'सज्जन' चित्रकार है।- "बीज-रूप में सज्जन का चित्रकार-रूप लेखक का कल्पित-मानस है और महिपाल लेखकीय-संघर्ष का वास्तविक-प्रतिरूप! दोनों बुद्धिजीवी हैं, दोनों की अपनी चिंतन-प्रणाली है। वे अपने वर्तमान से खिन्न हैं।....कहीं वे कोरे आदर्श से ओत-प्रोत दिखते हैं, कहीं उनका चिंतन यथार्थ-परक और प्रामाणिक दिखता है।....कहीं न कहीं कोई ग्रंथि भी है, जो उन्हें यथार्थ और आदर्श के बीच झूलने पर मजबूर करती है।"[९]

अमृतलाल नागर मूलतः चौक क्षेत्र के जन-जीवन, इतिहास, संस्कृति आदि से पूरी तरह परिचित है। इसलिए उनके अधिकांश उपन्यासों का कथाक्षेत्र पुराने लखनऊ का चौक ही रहता है। चौक से बाहर लखनऊ के अन्य हिस्सों में नागरजी की कथा का वातावरण या उनके पात्र बहुत ही कम है। उदाहरण के लिए सज्जन को लेते हैं- "सज्जन गली मोहल्ले के जीवन से परिचित होकर उनके चित्र बनाने की इच्छा से यहाँ (लखनऊ का कोई अनाम मोहल्ला) आया है। वैसे शाहनजफ रोड पर उसकी अपनी कोठी है; अमीनाबाद, कैसरबाग में उसके मकानात हैं, इनके किराए से हजार-आठ सौ के लगभग माहवार आमदनी होती है।"[१०] यह उद्धरण ऐसा अपवाद है जिसमें नागरजी अपने चौक क्षेत्र से इतर लखनऊ के अन्य हिस्से की चर्चा कर रहे हैं। ये साबित करता है कि जिस चौक में वह पूरे भारत को महसूस करते हैं, उसमें उनके अपने चौक क्षेत्र से अलग मोहल्लों की प्रासंगिकता भी 'कुछ' महत्व रखती है।

'बूँद और समुद्र' का महिपाल भी महत्वपूर्ण चरित्र है। उसकी पारिवारिक-पृष्ठिभूमि उसके चरित्र की निर्माता है लेकिन; जीवन के कटु-यथार्थ उसे धरातल से रसातल तक खींच लाते हैं। महिपाल विवाहित है और उसकी पत्नी अधिक पढ़ी-लिखी नहीं है। जिंदगी के बहुत सारे तनावों से भी महिपाल गुजरता रहता है। इसलिए पत्नी से इतर वह डॉ. शीला स्विंग, पढ़ी-लिखी संभ्रांत महिला की ओर झुकता है। शायद इसलिए भी कि डॉ. शीला, महिपाल के लेखकीय-रूप को समझती है। इसके विपरीत महिपाल का दूसरा रूप यह है कि लेखक, चिंतक और विचारक होते हुए भी, घर में वह अपनी पत्नी पर हाथ उठाने से भी नहीं चूकता। महिपाल की सोच प्रगतिशील है, परन्तु अपनी पत्नी के साथ मार-पीट का उसका व्यवहार, उसकी प्रगतिशीलता की कलई उतार देता है। महिपाल आत्माभिमानी है, इसलिए अपने रईस दोस्तों या डॉ. शीला से किसी तरह की आर्थिक सहायता लेना पसंद नहीं करता। इसके विपरीत ९ प्राणियों वाले अपने घर की

जरूरतें पूरी करना और लेखकीय-दायित्व निभाना, महिपाल के लिए बहुत कठिन और कश्मकश भरा होता है, "आर्थिक-अभाव, कल्याणी और शीला को लेकर द्वंद्व और पारिवारिक-जिम्मेदारी; महिपाल को तोड़ने का काम करती है, जिसकी परिणति उस घटना में होती है, जबकि वह मामा के घर हुई डकैती में डाकुओं को मारता हुआ गहने चुरा लेता है। अपनी ईमानदारी से च्युत होने पर महिपाल का व्यक्तित्व वही नही रह जाता, जैसा वह था।"[11]

इससे समझा जा सकता है की 'बूँद और समुद्र' में वर्णित यथार्थ न केवल उपन्यास के चरित्र का यथार्थ है बल्कि; वह लेखक के समय का ऐसा यथार्थ है, जो महिपाल से अन्यत्र समाज के व्यक्तियों में भी दिखाई पड़ सकता है। 'बूँद और समुद्र' उपन्यास में बाबा रामजी भी एक चरित्र है। बाबा रामजी एक चरित्र के रूप में 'बूँद और समुद्र' से अलग अन्य उपन्यासों में भी आए हैं। नागरजी ने 'जौनपुर का एक असाधारण, साधारण-पुरुष' शीर्षक से बाबा रामजी से मिलते-जुलते चरित्र की विस्तार से चर्चा की है।- "प्रभुजी, नागरजी के जीवन में सजीव पात्र थे, जिनके साथ जीवन में बहुत वैसा ही घटा, जैसा उपन्यास में देखने को मिलता है।.... यों तो उपन्यास के रामजी बाबा माया-मोह से ऊपर हैं और सेवा धर्म में ही रत हैं, लेकिन उसके चमत्कार कई बार अभिभूत करने की जगह शंका करने पर भी मजबूर कर देते हैं।"[12]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि नागरजी के उपन्यास का यथार्थ, कल्पनाशीलता का यथार्थ नहीं बल्कि; प्रासंगिक-रूप से समाज के बीच उपस्थित यथार्थ भी होता है। 'बूँद और समुद्र:आस्था की समस्या' शीर्षक लेख में डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है- "यह मोहल्ला एक बूँद की तरह है जिसमें समुद्र की तरह विशाल भारतीय-जीवन के दर्शन होते हैं।....उपन्यास के नाम की यही सार्थकता है; एक मोहल्ले के चित्रण में लेखक ने भारतीय-समाज के बहुत से रूपों के दर्शन करा दिए हैं।"[13]

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि नागरजी का उपन्यास 'बूँद और समुद्र' अपने-आप में एक सामाजिक-अध्ययन भी है और अपने समय और समाज का प्रासंगिक यथार्थ भी!

(५.) अमृत और विष :

अमृतलाल नागर का उपन्यास 'अमृत और विष'; 'बूँद और समुद्र' जैसे बड़े फलक के उपन्यास के बाद नागरजी की एक और बड़ी उपलब्धि है। इस पर उनको १९६७ का राष्ट्रीय

स्तरीय 'साहित्य अकादमी' सम्मान प्रदान किया गया था। यह नागरजी का शिल्पगत-प्रयोग वाला उपन्यास है। 'अमृत और विष' उपन्यास में कथानक एक साथ दो स्तरों पर चलता है। एक उपन्यासकार के आत्मकथ्य के रूप में हैं और दूसरा उपन्यास के भीतर सन्निहित एक दूसरा उपन्यास है। "आत्मकथ्य के रूप में कथा कहने वाले और उसी में अपने नए उपन्यास का समावेश करने वाले उपन्यासकार अरविन्द शंकर हैं। कथा का आरंभ उनकी ६०वीं वर्षगांठ से होता है। षष्ठिपूर्ति के नागरिक-आयोजन के विषय में अरविंदशंकर की मान्यता है कि उसके पीछे आयोजकों के अपने न्यस्त-स्वार्थ हैं। अरविंदशंकर सोचते हैं : 'व्यक्ति के जीवन की ढेर सारी उपलब्धियाँ, जिन्हें प्राप्त करने के लिए वह जान लड़ाता है, अन्त में निकम्मी होकर नष्ट हो जाती हैं....सोचता हूँ अपनी जीवन-कहानी लिख डालूँ।....आत्मकथा के संक्षिप्त नोट्स लिखते-लिखते सम्भव है, मेरी सरस्वती फिर से जाग उठे और उपन्यास भी प्रारंभ हो जाय।'....अरविन्दशंकर की आत्मकथा भी एक उपन्यास है.... कहीं-कहीं अपनी मार्मिकता में वह रमेश, लच्छू, रानी आदि युवा पात्रों को लेकर गढ़े गए उपन्यास पर हावी हो गई है। परन्तु समानांतर स्तरों पर चलने वाले इन दोनों उपन्यासों में जो प्रमुख-समानता और संगति है, वह है-- बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के आरम्भिक चरणों में पुरानी और नई पीढियों का अंतस्सम्बन्ध। उनकी मानसिकता पारस्परिक -कश्मकश और नए-पुराने मूल्यों का आपसी-टकराव।"[14]

'अमृत और विष' परवर्ती नेहरूयुग का उपन्यास है। इसमें लेखक "अरविन्दशंकर नेहरू और उनके युग के समाजवाद के प्रतिनिधि के रूप में डॉ० आत्माराम और हाजी नबीबख्श को प्रस्तुत करता है। डॉ. आत्माराम का सारसलेक समाजवाद का एक यूटोपिया ही अधिक है, जिसमें उनकी आँखों के नीचे व्यभिचार की नदी बहती है।....अरविन्द शंकर स्वयं नेहरू को दिल से प्यार करने और देवता जैसा आदर देने की बात स्वीकार करता है, लेकिन फिर वह उनकी वास्तविकता समझकर उन्हें 'दिमाग से उदार-समाजवादी, दिल से संकीर्ण-व्यक्तिवादी' मानने लगता है। अंग्रेजी के समर्थन और हिन्दी को 'डैमडर्टी निगर' दुत्कारने वाले उनकी नीति एक हिन्दी लेखक के रूप में उसकी अहंता पर चोट करती है। 'अमृत और विष' में अरविन्द शंकर का यह उपन्यास नेहरू-युग की तीखी आलोचना और मोहभंग की कहानी है।"[15]

अमृतलाल नागर का दोहरे कथानकों के माध्यम से लिखा गया यह उपन्यास अपने आपमें एक संश्लिष्ट-उपन्यास बन गया है। प्रकाशचंद्र मिश्र ने इसके बारे में अपनी बहुत संक्षिप्त टिप्पणी में कहा है, "**अमृत और विष** का सम्बन्ध आधुनिक-युग तथा आधुनिक सामाजिक-

जीवन से है। आधुनिक सामाजिक-जीवन में भी लेखक ने मध्यमवर्गीय-जीवन को इस उपन्यास के केंद्र में रखा है, इसलिए उपन्यास की कथावस्तु को पर्याप्त विविधता मिली है।"[16]

'अमृत और विष' मध्यवर्गीय के साथ ही कतिपय उच्च-मध्यवर्गीय पात्रों और चरित्रों का भी उपन्यास है। इसमें "उच्च मध्यवर्गीय पात्र अन्याय और शोषण का निर्भीकता से विरोध करते हैं। लड़को की बारादरी को रुप्पन लाला ने हड़पना चाहा है। गणेश गोविन्द गोडबोले, प्रिंसिपल राय राधाचरण, पंडित ध्रुवनाथ शास्त्री, अवकाश प्राप्त सब-जज किशोरीलाल सक्सेना आदि रुप्पन की शोषण-नीति का विरोध करते हैं। प्रिंसिपल साहेब विरोध में मजनून लिखते हैं और उसे रातों-रात छपवाकर जनता में बाँट दिया जाता है।"[17]

'अमृत और विष' जिस तरह का संशालिष्ट-उपन्यास है उसमें आये हुए चरित्र और उनका देश-काल तथा वातावरण नागरजी के न केवल जीवन-काल का है बल्कि; उनके लेखकीय-अनुभव का भी हिस्सा है। 'अमृत और विष' के जैसे चरित्र, चूँकि समाज के ही हैं; अतः सामाजिक-जीवन के व्यक्तियों और चरित्रों में 'अमृत और विष' के कथ्य-कथानक और पात्रों की प्रासंगिकता भी सहज ही देखी और पायी जायेगी।

(६.) नाच्यौ बहुत गोपाल :

अमृतलाल नागर का उपन्यास 'नाच्यौ बहुत गोपाल' भी उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों से अलग कोटि का और लीक से हटकर लिखा गया उपन्यास है। 'मेहतर' कहे जाने वाले अछूतों का जीवन इसके कथानक के मूल में है। यह उपन्यास जब लिखा गया था तब हिन्दी में दलित-साहित्य और दलित-विमर्श की चर्चाएँ न के बराबर थीं। इस उपन्यास के लगभग एक दशक के बाद हिन्दी में दलित-लेखन और दलित-विमर्श का बोलबाला सामने आता है। निश्चित रूप से यह अपने समय से पहले लिखा गया एक गंभीर और महत्वपूर्ण उपन्यास है।

अमृतलाल नागर अपने सभी उपन्यासों को लिखने से पूर्व उसके कथानक और विषय को लेकर पहले तो गंभीरता से सोचते थे और उसके बाद उससे संबंधित सामग्री-संचयन और शोध पर भी बहुत गंभीरता से काम करते थे। यह कार्य पूर्ण हो जाने पर ही उनका उपन्यास-लेखन शुरू होता था। इस उपन्यास के संबंध में भी 'मेहतर' समाज और उनके जीवन को भीतर तक समझने के लिए नागरजी उस समाज के बीच विभिन्न परिवारों में गये। अनेकानेक साक्षात्कार

लिये और जब उन्हें लगा कि उन्हें सम्यक-सामग्री आदि मिल गई है, तब उन्होंने इस उपन्यास का लेखन शुरू किया। इस उपन्यास के शोध में नागरजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भंगी कोई जाति नहीं है और यदि है तो केवल गुलामों की जाति। 'मेहतर' को नागरजी ने 'महत्तर' शब्द से जोड़कर उसकी महत्ता की और भी संकेत किया है।

'नाच्यौ बहुत गोपाल' दलित-जीवन के साथ ही दलितों में नारी-जीवन के यथार्थ का भी उपन्यास है। अमृतलाल नागर चूँकि प्रेमचंद की प्रगतिशील-परम्परा के यथार्थवादी उपन्यासकार भी हैं, इसलिए यहाँ प्रेमचंद के कथन को भी देख लेना प्रासंगिक है- "यथार्थवादी चरित्र को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न-रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुच्चरित्रता का अच्छा। उसके चरित्र, अपनी कमजोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बदी नहीं होता बल्कि; इसके विपरीत भी हुआ करता है।....बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं।....यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं, हमारी क्रूरताओं का नग्न-चित्र होता है।....यथार्थवाद यदि हमारी आँखे खोल देता है तो आदर्शवाद हमें किसी मनोरम-स्थान पर पहुँचा देता है लेकिन, जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठे, जो सिद्धांतों की मूर्ति मात्र हो, जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।"[18]

'नाच्यौ बहुत गोपाल', अमृतलाल नागर के उपन्यासों में दो कारणों से विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पहला तो यह कि ये उनका सर्वाधिक यथार्थवादी-उपन्यास है और दूसरा सबसे अधिक रोमांटिक भी। इसे मेहतर समाज पर केन्द्रित-उपन्यास कहने बजाय, उत्तर प्रदेश के मेहतर-समाज को केंद्र में रखकर लिखा गया यह ऐसा उपन्यास है, जिसके लिखने से पहले नागरजी ने इस समाज का अत्यंत-संवेदनशीलता से गहरा-अध्ययन किया। 'निर्गुनिया' इसकी नायिका है। वह आद्योपान्त पुरुष बहुल-समाज में पुरुषों और परिस्थितियों की उद्यमता को झेलती हुई नारी के नाते पूरे उपन्यास पर छाई हुई है। निर्गुनिया की कहानी को मेहतर समाज की नारी के शोषण और बिडंबनाओं के ही नहीं बल्कि; भारतीय नारी के शोषण की कहानी भी इसमें उभरकर आती है। इस उपन्यास का कथानक असामान्य भले लगता हो, पर

आस्वाभाविक बिल्कुल नहीं है। इस उपन्यास का शीर्षक सूरदास के एक पद की टेक 'अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल' से लेते हुए ही 'नाच्यौं बहुत गोपाल' शर्षक दिया गया है।

इस उपन्यास में नागरजी ने अपनी बहुत सी धारणाएँ व्यक्त की हैं। वे समाजशास्त्रियों के लिए और भी गहरे अध्ययन और चिंतन का विषय इसलिए हैं कि नागरजी ने इस उपन्यास के लेखन को जिस तरह और जिस हद तक अपने अध्ययन का विषय बनाया है, समाजशास्त्री उससे आगे और गहरे, कहाँ तक जा पाते हैं। इस उपन्यास की गहराई में जाते हुए अगर लेखक के मंतव्य तक पहुँचने की कोशिश करें तो हम पायेंगे कि नागरजी निश्चित रूप से मेहतर-समुदाय को लेकर बदलाव लाने के पक्षधर हैं। उपन्यास में कई जगह मेहतर समाज के आर्थिक, नैतिक और सामाजिक-शोषण को रोकने के लिए भी उन्होंने कुछ तो प्रच्छन्न और कुछ स्पष्ट सुझाव भी दिये हैं। कमल गुप्त को दिए गए एक साक्षात्कार में अभिव्यक्त उनके इस कथन से नागरजी का मंतव्य उजागर हो जाता है- "सामाजिक-स्तर पर हरिजनोद्धार-आन्दोलन का जो कार्य बापू के हाथों हुआ, जमुनालाल बजाज के द्वारा हुआ, उसी कार्य को साहित्य के माध्यम से; उपन्यास के द्वारा आगे बढ़ाने की भावना मेरे मन में है।"[१९] अमृतलाल नागर कृत 'नाच्यौ बहुत गोपाल' की प्रासंगिकता सबसे बड़ी यह है कि यह उस उपेक्षित और अस्पृश्य-समुदाय के बेहतर-जीवन की कामना करता है, जो काफी हद तक सिर पर 'मल' उठाने के काम से मुक्त होता गया है। मेहतर-समुदाय में अच्छी शिक्षा प्राप्त करके, अच्छी नौकरियों और उच्च पदों तक पहुँचने वाले युवक और युवतियाँ भी अब शिक्षित-मध्यवर्ग के दायरे में आ गये हैं और आने वाले समय में यह स्थितियाँ और बेहतर होंगी, यह नागरजी की इस यथार्थवादी-उपन्यास की सार्थकता और उपयोगिता के साथ उल्लेखनीय प्रासंगिकता भी है।

(७.) बिखरे तिनके और अग्निगर्भा :

अमृतलाल नागर अपने चौक के लखनऊ के समाज के हर वर्ग के बहुत गहरे-अध्येता हैं। इसी तरह वह विभिन्न वर्गीय परिवारों (उच्च, मध्यम एवं निम्न) के भी राई-रेशे को बहुत अच्छी तरह जानने-समझने वाले गम्भीर-लेखक हैं। अपने छोटे उपन्यास 'बिखरे तिनके' में वह "समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा उसी के सहारे निम्न व मध्यम-वर्ग की मध्यवर्ग में और मध्यवर्ग वालों की उच्चवर्ग में घुसाने की तीव्र लालसा, तथाकथित पिछड़े वर्गों की जातिगत रूढ़ियाँ और अहम-भाव, सामाजिक और राजनैतिक कुंडली चक्रों में डकैतों और अपराधियों की भूमिका,

राजनीतिक दाँव-पेंच और बड़े राजनेताओं की नैतिकता-शून्य, व्यावसायियों और छोटे उद्योगपतियों से साँठ-गाँठ इन और ऐसे ही अनेक प्रपंचों के बीच से नागरजी ने कुछ हिम्मतवर और आदर्शवादी नवयुवकों का एक सुसंगत-आख्यान की रचना की हैं।"[20] इस 'बिखरे तिनके' में कुछ चरित्र तो अविस्मरणीय हैं। उदाहरण के लिए अहीर परिवार के लड़के सुहागी और करमू, हरिजन की बेवा बेटी सरसुती का प्रेमसंबंध 'दाम्पत्य में बदल जाये; यह दोनों ही चाहते हैं, पर बिरादरी वाले इसमें सबसे बड़े रोड़ा हैं। उपन्यास के आदर्शवादी-नवयुवक 'सुहागी' और 'सरसुती' दोनों का विवाह तो करा देते हैं, पर एक धनाढ्य-व्यभिचारी की वासना का शिकार हुई सरसुती प्राण गवाँ बैठती है। उपन्यास के आदर्शवादी युवकों की टोली शरीफ-गुंडे की भूमिका वाले धनाढ्य-व्यभिचारी को सजा दिलाना चाहते हैं। परन्तु नेताओं और प्रशासन-तंत्र के भ्रष्टाचार के कारण युवकों के प्रयत्न विफल हो जाते हैं। फिर भी वे हार नही मानते। एक डकैत के सहारे उन्हें पुलिस की निगाह में डकैत-जैसा बनना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि अमृतलाल नागर नैतिक-ह्रास के वातावरण में भी नई पीढ़ी की चेतना में सामाजिक-बदलाव की दिशा खोजते हुए आशावान हैं।

राजनीति और प्रशासनतंत्र की तरह सामाजिक-जीवन के दूसरे क्षेत्रों के भी अनेक पात्रों को नागरजी 'बिखरे तिनके' में ले आये हैं। अपने लेखकीय प्रयोगों के सहारे उन्हें लेखक ने असाधारण रूप से जीवन्त कर दिया है।

अमृतलाल नागर ने जहाँ 'बूँद और समुद्र', 'अमृत और विष', 'नाच्यौ बहुत गोपाल', 'करवट' और 'पीढ़ियाँ' जैसे वृहद उपन्यास लिखे हैं, वहीं 'बिखरे तिनके' और 'अग्निगर्भा' जैसे छोटे उपन्यास भी लिखे हैं।

अग्निगर्भा नारी समस्याओं पर केंद्रित ऐसा उपन्यास है जिसमें शिक्षित और अशिक्षित वर्ग की कई स्त्रियों के बहाने पूँजीवादी-समाज में स्त्री की हैसियत, बीसवीं सदी के आठवें-दशक के आस-पास तक विभिन्न-वर्ग की कैसी रही है, यह इस उपन्यास में निरूपित हुआ है। यह उपन्यास हमारे समाज में विभिन्न वर्गों की स्त्रियों से जुड़ी समस्याओं और चिंताओं के प्रति नागरजी की बेचैनी क्या थी, वह इस उपन्यास में सहज ही देखा जा सकता है। उपन्यास की प्रमुख पात्र 'सीता' आधुनिक समय की प्रगतिशील विचारों की युवती हैं, पर वह भी समय और परिस्थितियों के दबाव में और अवसर मिलने पर जब लाभान्वित होने का समय आता है तो

उसकी प्रगतिशील-सोच, समझौता परस्ती में किस तरह बदलती है, यह इस उपन्यास में उभरकर आया है। मैत्रेयी शुक्ला जैसी महिला अपने भविष्य के प्रति इस उपन्यास में निश्चिन्त इसीलिए है कि वह सारस्वत प्रतिष्ठान की निर्देशक हैं। 'कुसुम' धनाढ्य पति की पत्नी है, धन-वैभव के प्रदर्शन से ऊपर वह उठ ही नहीं सकती। पढ़ी-लिखी प्रमिला की वैचारिक-पक्षधरता से अधिक हितलाभ उसके लिए महत्वपूर्ण है और-- गरीब ब्राह्मण चपरासी की पत्नी शीला, पति की प्रताड़ना ही नहीं झेलती, आर्थिक अभावों के कारण परिवार वालों के लिए कुछ न कर पाने की उम्मीद पालती है।

आज जबकि हमारा देश २१वीं सदी के दो दशक पार कर चुका है तो इस उपन्यास में विषय-वस्तु बनी समस्याएँ किसी हद तक कम भले हो गई हैं, पर स्थितियाँ बहुत बेहतर नहीं हुई हैं। पूर्व सत्तावादी-समाज का वर्चस्व भी टूट भले रहा हो, पर कुछ खास-कम नहीं हुआ है। ऐसे में इस उपन्यास के पुरूष, शोषक और दमनकारी संस्थाओं के पोषक ही अधिक हैं। १९६७ से १९६८ की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में कहा गया था कि बालिका-शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए, तब से अब तक के ४५ से ४९ वर्षों में बालिका शिक्षा पर सरकार ने बराबर ध्यान दिया है और बालिकाओं की शिक्षा का न केवल प्रतिशत बढ़ा है बल्कि; विभिन्न क्षेत्रों में पढ़ी-लिखी लड़कियाँ निकलकर आगे बढ़ी भी हैं। इस स्थिति में और बेहतर-सोच के साथ काफी-कुछ किए जाने की आज भी जरूरत है। इस दृष्टि से नागरजी का उपन्यास 'अग्निगर्भा' अपने समय की नब्ज पर उँगली रखने का बहुत सार्थक उदाहरण है। इस तरह के उपन्यास (और कहानियाँ भी) स्त्री-समाज और उसके जीवन की पड़ताल करते हुए उनके आगे बढ़ने की दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

(८.) करवट और पीढ़ियाँ :

'करवट और पीढ़ियाँ' नागरजी के अंतिम उपन्यास है। यों तो इन दोनों उपन्यासों का मुख्य घटना-क्षेत्र लखनऊ ही है। पर अपने कथा-विन्यास में इनका कथ्य और इनके चरित्र देश के दूसरे हिस्सों तक जाते हैं और फिर लखनऊ में वापस आ जाते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार, "अंग्रेजों ने भारत के उद्योग और व्यापार का नाश किया, उसे खेतिहर-देश बनाया। इस अपराध को छिपाने के लिए उन्होंने कथा गढ़ी। भारत में उद्योग-व्यापार का विकास कभी हुआ ही नहीं। इतिहास की इस समझ के अनुसार भारत में जो प्रगति हुई, वह अंग्रेजी-राज के कारण।"[21]

रामविलास जी 'करवट' को 'बहुत अच्छा' उपन्यास मानते हैं। उनके अनुसार, "यह उपन्यास अंग्रेजों के आज्ञाकारी शिक्षित वर्ग के समाज-सुधार की असलियत को जाहिर कर देता है। उपन्यास के उत्तरार्द्ध में रूढ़िवाद से नई पीढ़ी का संघर्ष तेज होता है।"[22]

स्वयं नागरजी के अनुसार, "समय का परिवर्तन इतिहास की पूँजी है। गदर के बाद अंग्रेजी शासन और शिक्षा के प्रभाव से हमारे समाज में एक नयी मानसिकता का उदय हुआ था। संघर्ष की प्रक्रियाओं में पुराने जातीय पंचायतों को नए जातीय 'असोसियेशनों' ने करारे-धक्के ही नहीं दिये, वरन् उन्हें ध्वस्त ही कर डाला। इन जातीय संघर्षों से ही नयी-राष्ट्रीयता ने जन्म पाया था। "यह इतिहास ही इस उपन्यास में काल्पनिक पात्र-पात्रियों के द्वारा अंकित हुआ है।"[23] 'करवट' (तथा परवर्ती 'पीढियाँ' भी) को लिखने में नागरजी ने "१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर २०वीं शताब्दी के अंतिम दिनों (१९८६) तक के न केवल भारतीय इतिहास के घटना-चक्र का बल्कि; सामाजिक, राजनीतिक और काफी हद तक समाज-वैज्ञानिक परिवर्तनों का विशद-अध्ययन किया है और उसे इन दोनों उपन्यासों में समाविष्ट किया है।"[24]

'करवट' १८५४ से १९०२ तक के कालखंड का उपन्यास है। इसमें १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में लखनऊ स्थित चौक के खत्री लाला मुसद्दीमल के पुत्र वंशीधर उर्फ तनकुन को केंद्र में रखा गया है और उनकी कहानी उनके पुत्र देशदीपक (उर्फ खोखा) के एक सफल और विख्यात डॉक्टर के रूप में प्रतिष्ठित होने के साथ ही २०वीं सदी के आरम्भ के प्लेग की भयानक-माहामारी में वंशीधर के देहान्त तक चलती है।

'करवट' और 'पीढ़ियाँ' के सम्बन्ध में श्रीलाल शुक्ल का यह महत्त्वपूर्ण कथन ध्यातव्य हैं - “विश्व के अनेक महान उपन्यास विराट-ऐतिहासिक घटनाओं की पृष्ठभूमि में लिखें गये हैं और साहित्य की कालजयी कृतियों में गिने जाते हैं। टॉलस्टॉय का ‘युद्ध और शांति’ तथा अपेक्षाकृत नए उपन्यासों में बोरिस पास्तरनाक की ‘डॉ. जिवागो’ इसी कोटि की कृतियाँ हैं। यशपाल के उपन्यास ‘झूठा सच’ और ‘मेरी तेरी उसकी बात’ में कुछ ऐसा ही प्रयास किया गया है।-- ‘युद्ध और शांति’ अथवा डॉ जिवागो की कोटि के उपन्यास जब विश्व-साहित्य में अपना स्थान बनाते है तो यह उनमें चित्रित ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या राजनैतिक-परिवेश की पकड़ के ही कारण नही होता है। इन उपन्यासों का मुख्य-महत्व उस परिवेश के वात्याचक्र में फँसे हुए या उससे अलग-थलग कुछ व्यक्तियों की मानवीय-संवेदनाओं और-- कृत्यों का, उनकी नियति के

साथ संघर्ष में है। ऐतिहासिक या सांस्कृतिक-परिवेश का चित्रण वस्तुतः एक पृष्ठभूमि भर है, जो मानवीय-अनुभव को प्रखरता देती है। पाठक को विचलित करने की शक्ति उस पृष्ठभूमि में उतनी नहीं हो सकती, जितनी कुछ चरित्रों की निजी-जिन्दगी के अनुभवों में उसके घात-प्रतिघातो में।"[25]

श्रीलाल शुक्ल का यह कथन 'करवट' और 'पीढ़ियाँ' की महत्ता पर एक उल्लेखनीय-टिप्पणी है। यद्यपि अपने दो वाक्यों में श्रीलाल शुक्ल, नागरजी के इन दोनों उपन्यासों की कुछ सीमाओं की ओर संकेत करके अपनी बात कुछ अधूरी भी छोड़ देते हैं, वहीं 'बूँद और समुद्र' को इन दोनों उपन्यासों की सीमाओं से मुक्त मानते हैं। श्रीलाल शुक्ल अपने उपर्युक्त-उद्धरण के क्रम में लिखते हैं "कई विषयों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अनूठे होते हुए भी- इन दोनों उपन्यासों की कुछ सीमाएं भी हैं, जो नागरजी के दूसरे उपन्यासों उदाहरणार्थ 'बूँद और समुद्र' में नहीं है।"[26]

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा ब्रिटेन के एजेंट के रूप में सत्ता-विस्तार करने पर इस देश में पढ़े-लिखे भारतीयों का ऐसा बिचौलिया-वर्ग तैयार करना था, जो कम्पनी के व्यापार को बढ़ाने में मददगार हो। ईस्ट इण्डिया कम्पनी से पहले (मुस्लिम-शासन काल में भी) भारत की शिक्षा-व्यवस्था एक तरह से परम्परागत थी। मुस्लिम-शासन काल में अरबी-फारसी भाषा के मदरसे, संस्कृत पाठशालाओं की तर्ज पर संचालित हुए। अतः यहाँ का भारतीय-मध्यवर्ग अंग्रेजी -भाषा और उसकी शिक्षा को अपनाकर अपना धर्म नष्ट नहीं करना चाहता था किन्तु; अंग्रेजों ने यहाँ भाषाओं के बीच बँटवारा करके, यहाँ के मध्यम-वर्ग के एक हिस्से को इसके लिए आकृष्ट (दूसरे शब्दों में प्रभावित) कर लिया। फलतः हिंदुस्तान के मध्यवर्ग की अंग्रेजी-शिक्षा और उसके स्कूलों में पढ़ाई करने में रुचि पैदा हुई, जिसका परिणाम भारत में नौकरी-पेशा मध्यवर्ग का उदय हुआ था। नागरजी का उपन्यास **करवट** इस वर्ग के अंग्रेजों के जाल में फँसने और उससे उबरने, दोनों की कथा वंशीधर और प्रकारांतर से 'करवट', उपन्यास में लेखक करता है। इसके विपरीत 'पीढ़ियाँ' मध्यवर्ग के शिक्षित-वर्ग में आयी राष्ट्रीय-चेतना और देश-प्रेम तथा स्वतंत्रता-आंदोलन के दौर में सामाजिक-चेतना और सामाजिक-सुधार से होते हुए एक ओर यदि देश की स्वाधीनता पर एक पड़ाव प्राप्त करता है तो दूसरी ओर आजादी के बाद इस देश में पढ़े-लिखे मध्यवर्ग के विकास और विचलन के साथ आये देश में सांप्रदायिक-दुर्भाव से लेकर आतंकवाद और रामजन्म भूमि, मंदिर तथा मस्जिद के विवाद तक को अपने में समेटता है।

पीढ़ियाँ, नागरजी का अंतिम उपन्यास है। यह उपन्यास मूलतः ब्रिटिशकालीन-भारत में आयी शिक्षा-व्यवस्था के नाते जो नौकरी पेशा वर्ग पैदा हुआ और उसके फलस्वरूप भारतीय-समाज में जिस मध्यवर्ग का उदय हुआ, उसी पर केंद्रित दो खंडों का उपन्यास है। 'पीढ़ियाँ' दूसरा व अंतिम खण्ड है। इसमें सन् १९०५ के स्वदेशी आंदोलन से लेकर १९८६ तक के 'विघटनकारी आतंकवाद' की कथा नागरजी ने लिखी है। वस्तुत: यह महत्वपूर्ण लोगों को पता नहीं है-- "यह उपन्यास मूलतः तीन खण्डों में नागरजी लिखना चाहते थे। सन् १८५४ से लेकर १९०२ तक का कालखण्ड 'करवट' नाम के पहले उपन्यास में आया है। 'करवट' के छप करके आने के आसपास नागरजी की सहधर्मिणी प्रतिभा नागर का आकस्मिक निधन होने के बाद नागरजी की न तो मन: स्थिति आगे लिखने की रह गयी थी और न अपने स्वास्थ्य को ही वह ठीक पा रहे थे। इस सब में लगभग एक-डेढ़ साल का समय निकल गया पर, सुखद यह रहा कि नागरजी 'करवट' के बाद की कथा को लिखने की मन: स्थिति में आ गये। यद्यपि उनका स्वास्थ्य अब पहले जैसा नहीं रह गया था। अतः शेष दो खण्डों की कथा को उन्होंने 'पीढ़ियाँ' शीर्षक उपन्यास के एक ही खण्ड में समेट और समाप्त कर दिया।" (नागरजी और उनके परिवार के करीब १९७४ से निरन्तर रहे बन्धु कुशावर्ती की आन्तरिक जानकारी के अनुसार, साक्षात्कार से)

पीढ़ियाँ से पूर्व के उपन्यास 'करवट' में रायसाहब बंशीधर टंडन से लेकर उनके पौत्र और सन्' ४२ के शहीद जयन्त के जन्म तक की कहानी आयी है। 'करवट' के बाद १९८६ तक बंशीधर टंडन के परिवार की वर्तमान पीढ़ी की कथा, 'पीढ़ियाँ' की विषयवस्तु है। इस प्रकार 'पीढ़ियाँ' लगभग ४३ वर्ष परतंत्रता के और लगभग ३५ वर्ष आजाद भारत की विषय वस्तु को लेखक ने 'पीढ़ियाँ' में समेटने वाला उपन्यास है। इसकी कथा का परिक्षेत्र मुख्यत: लखनऊ का चौक, चौक से इतर लखनऊ नगर और कुछ अन्य क्षेत्र लखनऊ के ग्रामीण क्षेत्र से संबंधित है। कहीं-कहीं उपन्यास में स्वतंत्रता-आंदोलन और स्वाधीन-भारत की कथा समानांतर रूप से या प्रासंगिक रूप से चलती हो; नागरजी स्वाधीनता के संघर्ष काल में एक ओर राजनीतिक आदर्श के मूल्य और सपने इसकी कथा में लाते हैं तो दूसरी ओर वर्तमान-काल में दरकते हुए मूल्य, स्वार्थपरता, व्यक्तिवादिता और अवसरवादिता आदि। स्वयं नागरजी के शब्दों में स्वतंत्र भारत में, "इस समय राजनीति तो है ही नहीं, केवल आपाधापी और धींगामुश्ती है। इसको राजनीति कहना, इस शब्द का अपमान है। आज तो जुलूस पैसे देकर निकलवाये जाते हैं। १९४२ और उसके आगे की कहानी 'पीढ़ियाँ' में 'इवनिंग पोस्ट', अखबार में पत्रकार, उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व

मंत्री का पुत्र युधिष्ठिर अपने दादा बैरिस्टर जयन्त टण्डन पर आधारित उपन्यास लिख रहा है। इस तरह उपन्यास के भीतर उपन्यास लिखा जा रहा है, जिससे घटनाक्रम कभी अपने देशकाल के तो कभी अतीत के ब्योरे देने लगता है।"[27]

उपन्यास में चौक के परंपरागत परिवारों का जीवन और आम जन-जीवन नागरजी ने अपने अन्य कृतियों की तरह ही बहुत जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया है। "बदले हुए समय में नवीन मूल्यों की आवश्यकता की प्रस्तावना की रचना में की गई है। उपन्यास के भीतर के उपन्यास में अधिकांश पात्र राष्ट्रीय सरोकार से भरे हुए हैं। देशहित सर्वोपरि है। इसलिए वर्ण-वर्ग, धर्म, प्रांत से ऊपर उठकर सोचते हैं....दूसरी ओर स्वतंत्र भारत में राजनीति का स्तर इतना अधिक गिर गया है कि आंदोलन के समय प्रतिबद्ध स्वतंत्रता सेनानी वर्मा, जो प्रदेश के मुख्यमंत्री हैं, ऐसे स्वार्थी और कुटिल राजनेता में तब्दील हो गए हैं कि जमीन के एक टुकड़े को हथियाने के लिए धर्म का सहारा लेकर शहर को सांप्रदायिक विद्वेष के ज़हर से दूषित कर देते हैं।"[28]

'पीढ़ियाँ' के डॉ. देशदीपक टण्डन- 'जो 'करवट' के उत्तरार्द्ध के प्रमुख पात्र हैं, के प्रपौत्र युधिष्ठिर , एक प्रमुख पात्र के रूप में आते हैं। युधिष्ठिर 'इवनिंग पोस्ट' अखबार में रिपोर्टर हैं। उसके पिता सुमंत राज्य के मुख्यमंत्री रह चुके हैं। अपने एक सहकर्मी के राजनीतिक कुचक्र से उकताकर उन्होंने न केवल अपने पद से त्यागपत्र दिया बल्कि; राजनीति से भी एक प्रकार से संन्यास ले लिया। वे अपने परिवार से दूर अयोध्या के निकट भरतकुंड नामक स्थान पर आध्यात्मिक-प्रवृत्ति के साथ जीवन-यापन कर रहें हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि स्वतंत्रता के संघर्ष से संबंधित सभी महत्वपूर्ण घटनाएँ और चरित्रों के विवरण इस उपन्यास के भीतर विन्यस्त युधिष्ठिर के उपन्यास में विस्तार से आए हैं। देश के स्वाधीनतता-संघर्ष से संबंधित स्वदेशी -आंदोलन, असहयोग-आन्दोलन, पूना-पैक्ट, नरमदल-गरमदल, कांग्रेस के क्रिया-कलाप, अंग्रेजों की कूटनीतियाँ, किसान-आन्दोलन और जन-साधारण का भारत राष्ट्र के लिए एकजुट होना आदि 'पीढ़ियाँ' की विषयवस्तु में समाहित हैं। उपन्यास के भीतर के उपन्यास का अन्त स्वतंत्रता-नायक जयंत की शहादत से और उसके पुत्र सुमंत के देहांत से होता है। अगली पीढ़ी के सुमंत ने नैतिक-मूल्यों की राजनीति से देश की सेवा की है। वह कुटिल राजनीतिक षडयंत्रों-सांप्रदायिक पैंतरों से क्षुब्ध होकर संन्यासी के रूप में अपने प्राण त्यागता है। अंततः कह सकते हैं कि 'पीढियाँ' की 'रचना' में आद्योपांत स्त्री-पुरुष चरित्रों के शब्दों में यह टेक गूँजती है कि आखिर इंसान हूँ, संवेदनाएँ हैं, भावनाएँ हैं, इच्छाएँ हैं....ये सब जिन्दा चीजें हैं और अपना जोर भी

मारेंगी तो नियत चौखटों से दाएं-बाएं भी ले जाएंगी। मनुष्य की अर्द्धगामी चेतन शक्ति व उदात्तता पर नागरजी को पूरा भरोसा है और इन जीवित राहों में ऊपर-नीचे होते हुए भी मनुष्य अपने विकास को प्राप्त करता है।

१.४ अमृतलाल नागर की कहानियों में सम-सामयिक लखनऊ और उसकी प्रासंगिकता

सन् १९३४ से मुख्यत: कहानियां लिखने से अपने लेखन की शुरुआत करने वाले अमृतलाल नागर ने ८० से ऊपर कहानियाँ लिखी हैं। किन्तु इसमें से केवल....चुनिन्दा कहानियाँ ही उन्होंने अपनी कहानियों के संपूर्ण संकलन 'एक दिल हजार अफसाने' में रखी हैं।

अमृतलाल नागर चूँकि 'चौक' क्षेत्र में ही रहे और वहाँ के लोगों के जीवन, आस-पास के चरित्रों और वातावरण को निरंतर गहराई से देखा-समझा, इसलिए वही अधिकांशतः उनकी कहानियों में उभरकर आया है। नागरजी चूँकि प्रेमचंद की प्रगतिशील परंपरा के कथाकार रहें है अतः उनकी कहानियों में प्रेमचंद की प्रगतिशील चेतना और यथार्थवादी सोच आयी है। परन्तु आरंभ से ही उनमें एक हास्य-व्यंग्य लेखक भी उनके भीतर सक्रिय रहा है। इसलिए उनकी कहानियों में हास्य-व्यंग्य की उपस्थिति भी देखने में आती है। आरम्भ में नागरजी शरच्चन्द्र का प्रभाव रहा, पर जब वह प्रेमचंद के संपर्क में आते तथा उनके पहले कहानी संकलन वाटिका पर प्रतिक्रिया देते हुए प्रेमचंद ने लिखा- 'मैं तुमसे रियलिस्टिक कहानियाँ चाहता हूँ' तो शरद बाबू के प्रभाव से मुक्त होने में अमृतलाल नागर को कुछ समय लगा। इसी दौर में उन्होंने रूस के लेखक टोलस्टोय को पढ़ा तो इस रूसी लेखक का यह वाक्य भीतर पैठ गया- "पहले यह मानना बंद कर दो कि कला महज आनंद देने का साधन है। इसे इन्सानी-जीवन की एक शर्त मानो।"[२९] इस बात ने मेरे १८-२० वर्षों से उमड़ते-उमड़ते नाबालिक कहानीकार को सहसा बालिग बना दिया-- "टोलस्तोय मानते थे की कला एक इन्सानी क्रिया है। एक जागरूक कलाकार अपने जीवन की अनुभूतियों को दूसरों तक पहुँचता है और अपने ही जैसा उसे भी प्रभावित करता है।....इस तरह मैंने यह समझ पाईं कि कहानी को धनुष बनाकर, उससे अपनी बात का तीर इस तरह चलाना चाहिए कि दिल की बात दिल में जा चुभे।"[३०]

इस क्रम में नागरजी की पहली कहानी 'शकीला की माँ' है। जहाँ से उनका कथा-लेखन प्रेमचंद की अपेक्षा के अनुरूप और टोलस्तोय से मिली समझ के साथ अग्रगामी होता है क्योंकि; नागरजी नवाबी दौर वाले उस चौक में रहे, जहाँ मुस्लिम आबादी भी और उस आबादी पर

पतनशील नवाबी दौर का प्रभाव भी है और वह नागरजी की कहानियों में देखा जा सकता है।- "जंतर-मंतर, कादिर मियाँ की भौजी, जुलाब की गोली, कयामत का दिन' और :नवाब साहब' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं, जिसमें मुस्लिम-समाज के विविध एवं अलग-अलग तरह के चरित्र मिलते हैं। नागरजी के चौक की आबादी का दूसरा बड़ा समाज खत्री और उससे संबंधित जातीय परिवारों का है। उनकी अनेक कहानियों में इस समाज की महिलाओं बूढ़ियों-वृद्धों, लड़कियों, युवकों आदि के बहुस्तरीय-चरित्र और पात्र तथा उनका जीवन नागरजी की कहानियों में मिलता है। इसी तरह कायस्थ, पिछड़ी जातियों, निचले तबके के समाज और निम्न-वर्गीय जीवन के बहुविधि चरित्र उनके व्यवहार, कार्य-व्यापार और बोली-बानी के साथ चौक लखनऊ का विपुल-समाज उनके कथा-लेखन में प्रामाणिक रूप से जीवंत मिलता है। 'मुंशी घिर्राऊलाल, गोरखधंधा, बेबी की प्रेमकहानी, मुल्लर महतारी, बसंती, भतीजी की ससुराल' आदि कहानियाँ इसी कोटि में आती हैं। 'एक दिल हजार अफसाने' की कहानियाँ जीवन के बहुवर्णी-स्वरूप से साक्षात्कार कराती हैं। इनमें रोमांस और रंगीनी है, तिलस्मी रहस्य रोमांच है, राष्ट्रीयता और सामाजिकता के विविध पक्षों के यथार्थ को उजागर करने वाले दृश्य और घटनाएँ है तथा कथात्मक व्यक्ति-चित्र भी है। पांच दशक से भी अधिक लंबे काल खण्ड को घेरती ये कहानियाँ कुल मिलाकर समय का दस्तावेज तो हैं ही एक समर्थ रचनाकार की अपूर्व रचनात्मक क्षमता की परिचायक भी हैं।"[31] नागरजी ने कई लंबी कहानियाँ भी लिखी हैं। 'आदमी नहीं! नहीं!', 'दो आस्थाएँ', 'अगति-गति', 'कालदण्ड की चोरी' आदि उनकी लंबी कहानियाँ हैं। 'एक दिल हजार अफसाने' वार्तालाप शैली की कहानी है। जिसमे कई कहानियों के प्रसंग है किंतु; अंततः यह कहानी एक जीवन्त-संस्मरण के रूप में खत्म होती है।- "यहाँ लखनऊ की सभ्यता-संस्कृति....थोड़ा विस्तार पा गई हैं। इससे लखनऊ के विषय में हमारा ज्ञानवर्धन तो होता है, नागरजी के वर्णन-कौशल के कारण हमारी दिलचस्पी भी कम नहीं होती।"[32] इस कहानी में नागरजी सामंती समाज का पोस्टमार्टम करते दिखते हैं। यों तो अमृतलाल नागर प्रेमचंद की परंपरा के कहानीकार है किन्तु; उन्होंने प्रसाद स्कूल के प्रभाव में जयशंकर प्रसाद, चंडी प्रसाद मिश्र 'हृदयेश', विनोद शंकर व्यास आदि की कलात्मक-रुमानी शैली से बेहतर प्रभावित होकर भी कुछ कहानियाँ लिखी। नागरजी ने स्वयं स्वीकार किया है। "आरंभिक कहानियों में 'समाज सुधार' और 'राष्ट्रीयता' का गहरा पुट था....उनके प्रकाशित न होने पर....चण्डी प्रसाद हृदयेश और जयशंकर प्रसाद की भाषा-शैली अपनाई किंतु कोई जश मेरे हाथ न लगा।"[33] अज्ञेयजी

द्वारा लिए गए लम्बे साक्षात्कार में नागरजी ने स्वीकार किया है- शुरू में कहानी लिखने की जो लहर चली उसमें बाहर से कोई चीज छू गई तो कहानी लिख डाली....चण्डी प्रसाद 'हृदयेश' और प्रसादजी की शैली का नशा चढ़ जाता तो उस टाइप की लिख डाली।"[34] इस सिलसिले में श्रीलाल शुक्ल ने नागरजी के कथा-लेखन का मूल्यांकन करते हुए कहा है- "नागरजी एक श्रेष्ठ गद्य-शिल्पी है....कई बार पाठक उस शिल्प के चर्मकार से इतना अभिभूत हो जाता है कि उनकी कहानियों के अंतर्निहित अनुगूँजो, उनकी बहुस्तरीयता और बहुआयामिता के तत्वों को तत्काल पहचान नहीं करता। फिर भी यह तत्व उसे जीवन की गहन अनुभूतियों में डुबाने की क्षमता रखते हैं।"[35]

नागरजी की कहानियों में कई सैड्स और कई परतें हैं। इस बाबत श्रीलाल शुक्ल लिखते हैं - "असली कठिनाई नागरजी की संवेदना की विस्तीर्ण जन-जीवन के प्रति निष्ठा उनके गतिशील चिंतन में हैं।....इस कारण उनकी अधिकांश कहानियाँ शुरू हो होती हैं। परिहासमय परिवेश चित्रण या पात्रों से कुछ ही देर में हमारा साक्षात्कार जन-जीवन की किसी नई विडम्बना से या नये त्रासद अनुभव होने लगता है।....उनकी लगभग हर कहानी में जिन्दगी का कोई न कोई नया अनुभव है, कोई न कोई नई समस्या है। इस स्थिति में इनकी हर रचना अपने-आप में प्रतिनिधि रचना बन जाती है।"[36] इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि नागरजी अपने समय-समाज और लखनऊ को, उसके चरित्रों को प्रासंगिक रुप से उभारने और सम-सामयिकता को सामने लाने में बराबर सचेत रहते हैं। नागरजी अपने कथा-लेखन में सम-सामाजिक जीवन और लखनऊ को चित्रित करने में 'किस्सा-बी-सियासत भटियारिन' और एडिटर बुल्लेशाह का' और 'एक दिल हजार अफसाने' जैसी उनकी कहानियों में दिलचस्प किस्सा-गोई तो मिलती ही है, परिवेश और संस्कृति की खिलती हुई बहार और उजड़ती हुई फिज़ा में जिन्दगी के न जाने कितने रंग मौजूद मिलते हैं।

नागरजी की किस्सा-गोई का कोई एक रुप नहीं है। लखनऊ के समय-समाज और सम-सामयिकता को दर्शाने के लिए वे 'सात चलनियाँ, प्रायश्चित, मन के संकेत, लंगूर का बच्चा, सती का दूसरा ब्याह, सूखी नदियाँ, ओढ़री सरकार' आदि कहानियों में अपने सुपरिचित कहानीपन से अलग किस्सा-गोई करते दिखाई पड़ते हैं। नागरजी की औपचारिक शिक्षा, अपेक्षतय: बहुत कम थी, पर अनुभव-जन्य ज्ञान ने उन्हें विलक्षण-प्रतिभा से संपन्न बनाया। इसलिए उनके यहाँ

औपचारिक पढ़ाई-लिखाई नहीं, अनुभूति और संवेदना महत्वपूर्ण है। इस पर अकबर इलाहाबादी का यह शेर नागरजी के बारे में बहुत मौजू लगता है-

दर्द को दिल में जगह दे अकबर, इल्म से शायरी नहीं होती।

अमृतलाल नागर के लेखन के केंद्र में लखनऊ है। कमोबेश उनकी अधिकांश रचनाओं में लखनऊ धड़कता है। नागरजी अपनी कहानियों के लिए लखनवी नज़ाकत, नफासत से लेकर नवाबी शान-औ-शौकत की तहज़ीबी रवायत तक को यदि एक ओर अपनी कहानियों में समाविष्ट करते हैं तो दूसरी ओर अपनी जिन्दगी जीते हुए जिस लखनऊ को उन्होंने देखा और जिया है, उसके समय और समाज को वह बहुत प्रामाणिकता से प्रस्तुत करते हैं। उनकी कहानियों में मनोरंजन, हास्य-परिहास और व्यंग्य ही नहीं, न जाने कितनी कराहती जिन्दगियों का बेशुमार दर्द उनकी कहानियों में मिलता है, जिसमें लखनऊ के व्यापक समाज की जिन्दगियों के करुण-स्वर और आर्तनाद को भी सुना जा सकता है।

बहुधा अमृतलाल नागर की कहानियाँ वादों और आन्दोलन के प्रभाव से मुक्त रही है। रामविलास शर्मा ने नागरजी को कहानीकार के साथ बुनियादी तौर से रेखाचित्रकार माना है। उनकी कहानियों पर समय की छाप के साथ क्षेत्रीयता यानी लखनऊ के जन-जीवन की अमिट छाप स्पष्ट रुप से देखी जा सकती है। समाज और उसकी भाषा-बोली, आपसी संबंधों को भी नागरजी जब भी प्रस्तुत करते हैं, उसमें उनका अपना लेखन कौशल भी दिखाई पड़ता है। नागरजी की कहानियो में डॉ. मक्खनलाल उर्फ डॉ. फर्नीचर पलट अद्भुत कोटि के चरित्र है। यह कहानी-यथार्थ के साथ जीवन में अन्तर्भूत दुश्वारियों को हास्य-व्यंग के अंदाज में बहुत कुशलता उकेर देती है। नागरजी के हास्य-व्यंग्य पूर्ण रचनाओं के संबंध में डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है- "अपने ढंग के अकेले व्यंगकार हैं। नागरजी हल्के ढंग से परिहार करते हुए चुटकी काटते हैं, जिसके पीछे सदा-शयता, सहानुभूति का भाव रहता है। कस्बाई जीवन के चित्र वहाँ की विविधता पूर्ण संस्कृति, भाषा-बोली सहज रुप में नागरजी के व्यंग के कथा-साहित्य में भी मिलती है।"[37]

इस बारे में स्वयं नागजी का कथन भी द्रष्टव्य है- "मैंने आज की शैली के अनुसार विशुद्ध व्यंग्य नहीं लिखा। शायद मस्ती भरा मन पाया है तो जब जैसी मौज आयी, वैसी रंग-तरंगों में बहकर अपने पाठक को भी बहाता रहा।"[38]

नागरजी की कहानियों में हिंदू-मुसलमान की, साझा संस्कृति भी पूरी तरह उभरकर आयी है। ये हिंदुस्तानी ही नहीं, लखनऊ की भी खास तहज़ीब थी। प्रेमचन्द, यशपाल, और भीष्म साहनी के यहाँ जब मुस्लिम पात्रों की उपस्थिति की चर्चा होती है तो अमृतलाल नागर के यहाँ बड़ी मात्रा में आते मुसलमान चरित्रों के साथ लखनऊ के जन-जीवन की मौजूदगी को भुला दिया जाता है। नागरजी की भाषा-शैली और उसकी शब्दावली हिन्दी के सारे कथाकारों से भिन्न और अपनी निजी है, ऐसा कि उसकी कोई नकल करना चाहे तो मुश्किल होगी। नागरजी की कहानियाँ पढ़ते वक्त उनका किस्सा-गोई का रोचक अंदाज बराबर जीवन्त मिलता है। नागरजी चूँकि लखनऊ विशेष रुप से 'चौक' लखनऊ के जन-जीवन के कथाकार है, इसलिए इनकी लखनऊ की बोली-वानी, भाषा-शैली का एक संग्रह 'हम फिदाए लखनऊ' स्वतंत्र रूप से इनके प्रकाशक ने प्रकाशित किया है। इसे नागरजी की कथा-शैली का प्रतिनिधि संकलन कह सकते हैं। इनमें १४ कहानियाँ है। नागरजी की रचनाएँ लखनऊ के जन-जीवन का जीवंत दस्तावेज है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि लखनऊ की जिस तहज़ीब और तमद्दुन का दुनिया भर में इतना शोर हुआ है, उसे सचमुच बहुत कम लोग जानते हैं और अब तो वह बरायनाम ही रह गया है। अमृतलाल नागर का लखनऊ विषयक साहित्य विशेष रुप से कथा-साहित्य, अपने-आप में एक नज़ीर उनके नवाब और उनसे लगे बहुत सारे लोग रहें हैं, पर सच यह है कि उनके साहित्य के केंद्र में हमेशा लखनऊ का आम-आदमी ही रहा है। अतीत को देखने के मामले में नागरजी बेहद प्रगतिशील हैं। वे बेकार की चीजों का महिमा मंडन नहीं करते। नवाबी दौर की प्रथाओं और शोषणकारी, सामंती कृत्यों पर वह गंभीर व्यंग्य करते हैं। लेकिन नवाबी उजड़ने के बाद लखनऊ के रईसों, तालुकेदारों और नवाबों की बदहाली के प्रति नागरजी बेहद संवेदनशील भी रहते है। आज आवश्यकता है कि लखनऊ और उसकी तहजीब को ब्रांड की तरह बाजार का विषय बनाने के बजाय दरअसल लखनऊ खुद में जो है, उसे इमानदारी और समझदारी से सामने लाया जाए। अमृतलाल नागर की कहानियाँ इस अर्थ में बहुत काम की है।

अमृतलाल नागर की कहानियों में समाज की यथार्थ स्थिति सामने आती है। समाज का दु:ख-दर्द नज़र आता है। विषय-वस्तु के रूप में और इससे जुड़ी समस्याओं के साहित्य में अनुपस्थित होने से नागरजी चिंतित रहे हैं। वे अपने पाठक से सीधे-सीधे यह नहीं कहते कि अन्याय पूर्ण स्थितियों को बदल डालो। वे अपना निर्णय पाठक पर थोपने के बजाय उसे स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार देते हैं।- एक जगह उन्होंने कहा भी है कि वे किसी को किसी विचार से

दबा नहीं सकते, प्रेरित करना तो दूसरी चीज है।[39]

१.५ गंगाप्रसाद मिश्र के कथा साहित्य में सम-सामयिक लखनऊ व उसकी प्रासंगिकता

गंगाप्रसाद मिश्र लगभग आठ साल की उम्र में लखनऊ आकर यहीं उनके तथा उनके परिवार के रहने का जो सिलसिला बना तो लखनऊ के आबो-हवा के बीच में जीते-रहते हुए वे असंदिग्ध रुप से लखनवी हो गए। प्रेमचन्द को उन्होंने धुर बचपन से पढ़ना शुरू कर दिया था। १९२७ के आस-पास जब वे लखनऊ आए और जल्दी ही उनका प्रवेश यहाँ के कान्यकुब्ज कॉलेज में हो गया तो वह अपने प्रिय लेखक प्रेमचन्द की किताबें एक के बाद एक पढ़ते गए। इससे उनमें लिखने का उत्साह भी जागा तो उनकी लिखी कहानियाँ विद्यालय की पत्रिका और साहित्यिक पत्रिका 'माधुरी' आदि में भी छपी। विश्वविद्यालय स्तर पर पहुँचने तक लखनऊ के उभरते कहानीकार के रूप में उनकी पहचान बन गई थी। लखनऊ विश्वविद्यालय से एमए. करते हुए १९४०-'४१ में मिश्रजी ने अपना उपन्यास 'विराग' (सन् १९४१) लिखा। यह राष्ट्रीय आन्दोलन और मजदूरों के संघर्ष की पृष्ठभूमि पर है। इसके बाद ही उन्होंने मनोवैज्ञानिक कोटि का दूसरा उपन्यास 'महिमा' लिखा। यद्यपि उनका तीसरा उपन्यास 'संघर्षों के बीच' पहले (१९४४ में) छपा तथा 'महिमा' (१९४५ में)। बचपन से रहते और पलते-बढ़ते हुए उन्होंने जिस लखनऊ को देखा, वह उनके तीनों उपन्यास में इस तरह उभरकर आया है कि उनके माध्यम से हम १९४५ तक के लखनऊ उसके जन-जीवन और समाज को देख और समझ सकते हैं। उनका उपन्यास 'तस्वीरें और साये' (१९६४) नागरजी के 'बूँद और समुद्र' के जैसा ही है।

गंगाप्रसाद मिश्र का पहला उपन्यास 'विराग' लखनऊ के मजदूरों के आंदोलन को केंद्र में रखता है, पर बाद में इसका नायक देश के पूर्वोत्तर के मजदूर आन्दोलन से जुड़ने के लिए निकल जाता है। इसी तरह उनका 'सोनारवाणी के पार' (१९६८) शुरू तो लखनऊ के परिवेश से होता है पर, उसका कथानक विकसित होकर पर्वतीय प्रदेश तक चला जाता है। 'जहर चाँद का' (१९७६) में लखनऊ तो नहीं है, पर हमारे देश (इस उपन्यास के माध्यम से उत्तर प्रदेश) के जिले और गाँव में चलते इण्टर मीडिएट तक के शिक्षण संस्थानों में शिक्षा और शिक्षकों की असलियत का आईना दिखाते हैं। गंगाप्रसाद मिश्रजी का सातवाँ उपन्यास 'मुस्कान है कहाँ' (१९८२) अंतर्राष्ट्रीय बालवर्ष (१९७९) के नारे 'बच्चों की मुस्कान, देश की शान' को केंद्र में रख करके लिखा जरूर गया है, पर इसमें समाज के उच्च-मध्यम और निम्नवर्ग में बच्चों का वास्तविक जीवन कैसा है;

मिश्रजी उसकी परतें उधेड़ते हुए सामने लाते हैं। इससे प्रत्यक्षतः लखनऊ तो नहीं है लेकिन, आन्तरिक रुप से इसमें लेखक ने लखनऊ के माध्यम और निम्नवर्ग के परिवारों में बच्चों के जीवन की विसंगतियों को सामने लाने की कोशिश की है। इसी तरह उनके अन्तिम उपन्यास 'राग साइड' (१९९१ में) प्रासंगिक रूप से लखनऊ है, पर विशेष रुप से यह उपन्यास हमारे यहाँ की खेल की दुनिया में लड़कियों के साथ क्या, कुछ, कैसा गुजरता रहता है, इसे यह उपन्यास सामने लाता है।

अब आगे हम गंगाप्रसाद मिश्र के उपन्यासों में लखनऊ के जन-जीवन और सम-सामयिकता के साथ उनके उपन्यासों की लखनऊ के परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता की भी चर्चा करेंगे।

(१.) विराग (१९४१) :

गंगाप्रसाद मिश्र प्रेमचंद्र स्कूल के महत्वपूर्ण कथाकार है। उन्होंने प्रेमचंद्र के लेखन की प्रगतिशील परंपरा और यथार्थवादी तथ्यों को अपने उपन्यासों की विषयवस्तु बनाया है। 'विराग' इस उपन्यास की नायिका है। चाचा के यहाँ उसका लालन-पालन होता है, फिर बोझ उतारने की तरह बनारस में उसका विवाह होता है वहाँ कुछ दिन बाद उसे एक संतान होती है, पर उसके पति का निधन हो जाता है। तब वह वापस अपने शहर लखनऊ आ जाती है और खुद तथा अपने बच्चे के लिए जीने को अपना उद्देश बनाती है। 'अचल' इस उपन्यास का नायक है, जो पढ़ाई के साथ ही मजदूर आन्दोलन से जुड़ जाता है। अचल और विराग मजदूरों के हक और हित में बहुत कुछ करते हैं। मजदूर आन्दोलन में विराग और अचल कंधे से कंधा मिलाकर काम करते हैं कि अचल को आसाम के मजदूर आन्दोलन को देखने-सँभालने के लिए जाना पड़ता है। इसके बीच 'मुरारी' भी एक विचित्र कोटि का चरित्र और पात्र है, जो अचल की वजह से बेहतर चरित्र बनता है। 'अचल' आसाम के मजदूर आन्दोलन में विलीन हो जाता है। पूरा उपन्यास लगता है लेखक ने कथानक ही नहीं, इसके चरित्रों के भीतर पैठकर लिखा है। 'विराग' अपने समय का प्रगतिशील उपन्यास है। इसमें मजदूर आंदोलन के सिलसिले में आजादी के पहले लखनऊ की कागज मिल और कपड़ा मिल को केंद्र में रखा गया है। इससे तत्कालीन लखनऊ के दो छोरों की दो मिलों से जुड़े तथ्य और वहाँ के लोगों का जीवन भी उभर करके आया है।

(२.) संघर्षों के बीच (१९४४) :

'संघर्षों के बीच' गंगाप्रसाद मिश्र का प्रगतिशील-यथार्थवादी उपन्यास है। इसमें लेखक ने पतनोन्मुख निम्न-मध्यवर्ग के एक परिवार की कहानी कही है और कथावस्तु को जीवन की कठोर वास्तविकता से उठाया है। अमृतराय ने ठीक ही लिखा है- "अपने परिचित जीवन की पृष्ठभूमि से कथानक और पात्रों को उठाकर लेखक ने यथार्थवादी उपन्यास की सबसे बड़ी आवश्यकता पूरी की है।"[40] तथा यह भी कि, "जहाँ तक संभव हुआ है, लेखक अपने निजी अनुभव की सीमा से बाहर नहीं गया है।"[41] प्रेमचन्द के स्कूल के कथाकार गंगाप्रसाद मिश्र में प्रेमचन्द का प्रभाव ही नहीं, प्रेमचन्द की शैली जैसी चलती- मुहावरेदार भाषा, लगभग वैसा ही चरित्र-चित्रण और कहानी कहने का ढंग भी-- प्रेमचन्द के ही जैसा है। 'संघर्षों के बीच' का त्रिलोकी हमारे युग की असफलता का प्रतीक जरूर है और वो हमारे आधुनिक तरूण जीवन की असफलता, निराशा और क्षोभ का भी प्रतीक बन जाता है लेकिन- "त्रिलोकी के रूप में लेखन ने हमारे उपन्यास साहित्य को एक श्रेष्ठ उपन्यास दिया है।"[42] और "मुझे यह कहने में संकोच नहीं की 'संघर्षों के बीच' की गिनती हमारे श्रेष्ठ उपन्यासों में होगी।"[43]

कांतिचंद सौनरेक्सा ने लिखा है- "एक छोटी सी किताब में गंगाप्रसाद मिश्र ने एक पीढ़ी के समाज की समूची सांस्कृतिक और आर्थिक-व्यवस्था का इतिहास किस तरह समाविष्ट कर दिया है।"[44]

इस उपन्यास में स्वयं लेखक का संघर्षशील जीवन भी अंतर्निहित है। साथ ही आजादी के पूर्व 'अमीनाबाद' और आस-पास का जीवन भी बहुत प्रामाणिकता से प्रस्तुत हुआ है। प्रो. जयप्रकाश ने 'संघर्षों के बीच' को "एक प्रगतिशील सामाजिक मिजाज़ का उपन्यास कहा है।"[45] और यह भी कि- "इसकी रचना, अन्त तक पहुँचते-पहुँचते मार्क्सवाद की सैद्धांतिक में घुल-मिल जाती है।"[46] आजादी के इस उपन्यास में द्वितीय विश्व युद्ध (१९३९-४३) का संदर्भ भी आया है। इस उपन्यास में गंगाप्रसाद मिश्र का लखनऊ पूरी तरह मौजूद है। लेखक के "साहित्यिक सरोकारों, रेडियों में नाटक-प्रसारण आदि लेखक के जीवन के प्रसंग है। इसमें आए नाम शरतचंद्र चटर्जी, सुदर्शन, जमुना स्वरूप कश्यक, सहगल, पृथ्वीराज आदि नाम अगर लेखकीय रुचि और सरोकारों के नाते जुड़े हैं तो फढ़ीसजी, प्रेमचंद, भगवती चरण वर्मा तथा आगाहश्र कश्मीरी के नाम स्वयं लेखक के किसी न किसी रूप में आत्मीय है।"[47] लेखन ने व्यक्ति के स्तर

पर इस उपन्यास में "व्यक्ति-विघटन के अनेक रूप प्रस्तुत किए हैं।"[48]।

"उपन्यासकार ने समाज-व्यवस्था के उन पहलुओं को छुआ है, जहाँ विकृति है, रूढ़ि है, वैज्ञानिक और तार्किक सोच नही है।"[49]

इस उपन्यास में जातीय- उच्चता, नीचता की बखिया उधेड़कर रख दी गई है। लेखक ने उपन्यास में श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों की रक्षा का भी संदेश दिया है।

(३.) महिमा (१९४५) :

'महिमा' गंगाप्रसाद मिश्र का तीसरा उपन्यास है। उपन्यास के कथावाचक के माध्यम से नायिका से प्रेमाकुल अंतस्सम्बन्धो का लुकी-छिपी में विकसित आख्यान है। अन्ततः यह भाई-बहन के दमनशील मर्यादा-वृत्त में संकुचित होकर रह जाता है। इसकी कथा में प्रेम के विज्ञान और यौनाकर्षण का तनाव और फैलाव है, जिसमें चरित्र की सुचिता अक्षुण्य रहती है। इस उपन्यास में कथानायक और नायिका के चरित्रगत-आदर्श के बीच घटते-बढ़ते द्वंद्व में मध्यवर्गीय आर्थिक-सामाजिक संदर्भों का उन्मीलन भी बहुत स्वाभाविक और निर्विवाद रूप से हुआ है। इसका परिक्षेत्र और समय आजादी के पहले का लखनऊ हैं, किंतु कथा-विस्तार में यह उपन्यास लखनऊ के कुछ-एक दूसरे शहरों के अलावा दिल्ली को भी अपने परिवृत्त में लेता है।

आजादी के पूर्व जिस कालखंड में 'महिमा' उपन्यास गंगाप्रसाद मिश्र ने लिखा है तब तक हिन्दी में इलाचन्द जोशी, अज्ञेय आदि के ही कुछ उपन्यास आते थे। उन लेखकों को अपेक्षा इस उपन्यास का लेखक अधिक युवा था। फिर भी प्रेमाकुल अंतस्संबंधों का जैसा आख्यान और उसका तनाव मर्यादावृत्त के साथ विकसित और संकुचित होता है, वह लेखक की उस कालखंड में बड़ी सफलता है।

अपने कालखंड के लखनऊ वहाँ के रिहाइस, जन-जीवन को भी यह उपन्यास सम-सामयिक परिप्रेक्ष्य में पर्याप्त समृद्ध के साथ प्रस्तुत करता है।

(४.) तस्वीरें और साये (१९६४) :

गंगाप्रसाद मिश्र का 'तस्वीरें और साये' उपन्यास पूर्व के तीनों उपन्यासों से लगभग १० साल बाद की अवधि से लिखा जाता है और 'महिमा' (१९४५) के लगभग २० वर्ष बाद प्रकाशित

होता है। इसके पीछे कारण यह रहा है की उनके द्वारा लिखा गया उपन्यास 'पथ के काँटे' प्रकाशक के यहाँ से खो जाने से प्रकाशित नहीं हुआ! इस आघात से गंगाप्रसाद मिश्र लंबे समय तक उबर न पाने कारण उपन्यास लेखन की ओर प्रवृत्त नहीं हुए। "सन् १९४७-'४८ में प्राइवेट ट्यूशन पढ़ाने वाले एक व्यक्ति को केंद्र मानकर 'पथ के काँटे' (ट्यूटर)....उपन्यास मैने झाँसी में लिखा था। इसको श्रीयुत् वृन्दावन लाल वर्मा के पुत्र श्रीयुत् सत्यदेव वर्मा प्रकाशित करने के लिए मुझसे ले गए थे। उनके कार्यालय से इस उपन्यास की पांडुलिपि खो गई। चूँकि मेरे पास उसकी दूसरी प्रतिलिपि न थी, वह उपन्यास अंधकार के गर्त में विलीन हो गया। इस घटना का मुझ पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि बहुत दिन उपन्यास लिखने का मन ही न हुआ।

"प्रस्तुत उपन्यास 'तस्वीरें और साये' मैने काफी पहले लिखना शुरू किया था। मित्रों ने इसके प्रारंभिक अध्याय बहुत पसन्द किए....मुझे उत्साहित किया....इसे जल्दी लिख डालो। परन्तु मेरे बहुधंधी होने के कारण यह काफी दिन पड़ा रहा....इसे लिखने की धुन सवार हुई....थोड़ा-थोड़ा करके....लिखता रहा....अब यह उपन्यास आपके सामने है।"[50] लगभग १० वर्ष बाद उन्होंने इस उपन्यास की शुरुआत की भी तो प्रायः १० वर्ष की लंबी अवधि में लिखे जाने से, उनकी प्रारंभिक औपन्यासिक यात्रा के तीसरे पड़ाव के बाद लगभग २० वर्ष पश्चात् 'तस्वीरें और साये' प्रकाशित हो पाया।

'तस्वीरें और साये' पूरी तरह लखनऊ और उसके जन-जीवन को प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है। इस कालखंड में गंगाप्रसाद मिश्र लखनऊ से बाहर रहें हैं, लेकिन इस उपन्यास के माध्यम से इनकी लखनऊ वापसी कथा-विन्यास के जरिए बराबर होती रही है। इसमें उनकी स्वयं का काफी कुछ जीवन कथनायक के मध्यम से उभरकर आया है। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि नागरजी का 'बूँदऔर समुद्र' १९५५ में प्रकाशित हो चुका था जिसका परिक्षेत्र मुख्यत: लखनऊ और उसका जन-संकुल जन-जीवन है। चौक क्षेत्र के बाहर के लखनऊ में नागरजी अपना कथा-विस्तार बहुत कम करते है। इसके विपरीत गंगाप्रसाद मिश्र की कथा-संसार का परिक्षेत्र नागरजी के पुराने चौक से पश्चिम और विशेष रुप से लखनऊ का बड़ा परिक्षेत्र 'तस्वीरें और साये' की कथा-विन्यास में समाहित हुआ है। 'तस्वीरें और साये' में अमीनाबाद के आस-पास का इलाका, गोमतीपार का तत्कालीन 'लखनऊ विश्वविद्यालय' और चारबाग के उस पार बसा रेलवे और उसकी कालोनियों का आलमबाग तक फैला लखनऊ इस उपन्यास का वर्ण्य-विषय बना है।

'तस्वीरें और साये' लखनऊ के व्यापक समाज को प्रस्तुत करने वाला अत्यंत महत्वपूर्ण उपन्यास है। सन् १९६० से पहले की आलोचना में महत्वपूर्ण नाम रहे डॉ. प्रकाशचंद्र गुप्त ने लिखा है, "सन् १९३९-४० के लगभग मैंने गंगाप्रसाद मिश्र के पहले उपन्यास 'विराग' की आलोचना 'हंस' में की थी। उस उपन्यास में प्रतिभा के जो तत्व थे, उसका पूर्ण विकास और गुणात्मक परिवर्तन हम 'तस्वीरें और साये' में देखते है। इस रचना में लेखक पूर्ण परिपक्वता और प्रौढ़ता प्राप्त कर चुका है। उपन्यास में लखनऊ के निम्न-मध्यवर्गीय जीवन का सजीव चित्र...., लखनऊ के गली-टोले, यहाँ का विधायी जीवन सभी इस उपन्यास में मानों सहस्त्र जिह्वाओं से बोल उठे हैं।"[51]

डॉ० मदन गोपाल गुप्त ने 'तस्वीरें और साये' को शहरी आंचलिकता का उपन्यास माना है। वह लिखते हैं- "आंचलिकता उपन्यासों में आंचलिक परिवेश तथा उसके व्यक्तित्व को साकार करने की जो खूबी रहा करती है, वह इस उपन्यास में भी देखने को मिलेगी।"[52]

'तस्वीरें और साये' में दो कथाएँ एक साथ चलती हैं।- "एक कथा है चंद्रभान अवस्थी की तो दूसरी बलदेव की।....उपरिनिर्दिष्ट द्विविधि कथानाकों के मध्यम से मध्यमवर्गीय समाज में दो भिन्न पक्ष प्रकाश में आते हैं। चंद्रभान अवस्थी का जीवन संस्कारी-मध्यवर्ग को प्रस्तुत करता है।....बलदेव का जीवन निम्न-मध्यवर्गीयता का।"[53] उपन्यास में वर्णित कालखंड के महानगरीय जीवन का छात्रवर्ग भी अपने बहुविधि रंगों के साथ इस उपन्यास में वर्णित हुआ है।- "पाठक को 'तस्वीरें और साये' में सशक्त रेखाचित्र प्रस्तुत करने वाले विवरण मिलेंगे।' और 'वर्णन शैली की आडम्बरहीन सादगी.... जहाँ व्यंग्य भी है व शालीनता को लिए हुए है।"[54]

स्वयं गंगाप्रसाद मिश्र के अनुसार- 'उपन्यास का क्षेत्र लखनऊ है। वहाँ के जीवन, रहन-सहन, बोली इत्यादि के चित्र आपको इसमें मिलेंगे....लखनऊ के कुछ जीते-जागते व्यक्तियों का भी इसमें जिक्र है। साहित्य, संगीत अथवा खेलकूद के क्षेत्र में उनके बिना चित्र निश्चय ही अधूरा ही रहता है।....लखनऊ की आब-हवा, रहन-सहन, बोला-चाल व गोमती-किनारे के दुख-दर्द तथा हँसी-खुशी पर लिखा गया यह उपन्यास आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में किस हद तक अपना स्थान बनाता है, यह पाठक और आलोचक जाने।

जाहिर है की 'तस्वीरें और साये' नागरजी के 'बूँद और समुद्र' में छूटे रहते बड़े हिस्से के लखनऊ को उसकी विविधताओं के साथ समेटता है। अतः यह कहना अतिशयोक्ति और

असंगत नहीं होगा की न केवल 'तस्वीरें और साये' से बल्कि; अपनी कहानियों और विविध कथेतर-गद्य से गंगाप्रसाद मिश्र अपने लेखन में जिस लखनऊ को ले आते हैं, उसके बिना नागरजी के कथा-साहित्य और कथेतर साहित्य में आए लखनऊ को बहुत महत्व देते हुए पाठकों को लखनऊ को जान लेने और नागरजी को लखनऊ का प्रक्षेपक मान लेने की संकुचित -समझ विशिष्ट बनी रहती है क्योंकि; जब-तक गंगाप्रसाद मिश्र की कहानियों, उपन्यासों और उनके कथेतर गद्य से भी गुजर नहीं लिया जाएगा तब तक सम्पूर्ण लखनऊ को जान पाना किसी भी हिन्दी पाठक के लिए एक भ्रम ही रहेगा।

(५.) सोनारवाणी के पार (१९६८) :

हिन्दी में नगरीय-आंचलिकता के कहानी और उपन्यास-लेखन के साथ ही साहित्य का भूगोल बदलने वाले कथा-विन्यास का लेखन भी हुआ है। आशय यह कि कहानी या उपन्यास में किसी नगर और उसके क्षेत्र और पात्रों, चरित्रों की कथा, अपने कथानक के साथ उस नगर से इतर या देश के दूसरे हिस्से में चली जाती है। यही है साहित्य में भूगोल बदलने का लेखन। गंगाप्रसाद मिश्र के अधिकांश उपन्यासों में नगरीय आंचलिकता और साहित्य में बदलते भूगोल का लेखन देखने को मिलता है। मसलन 'विराग' का अचल, कथानक का साहित्यिक भूगोल बदलने से 'आसाम' चला जाता है तो 'महिमा' के पात्र और चरित्र कथा-विस्तार के नाते लखनऊ से इतर प्रदेश के दूसरे शहर और दिल्ली तक पहुँच जाता है। गंगाप्रसाद मिश्र का उपन्यास 'सोनारवाणी के पार' लखनऊ से इतर कश्मीर की वादियों तक के कथ्य को अपने कथानक में समेटता है। यह मूलतः मनोवैज्ञानिक और रोमांटिक है किन्तु; इसके साथ गहन-सामाजिक चिंतन भी लिपटा हुआ है। स्त्री-पुरुष साहचर्य से उत्पन्न वह यथार्थ है, "(इसकी मूल संवेदना) जो अपनी दुर्निवारता के कारण सार्वभौम बन जाता है और जिसके नियमन के लिए संपूर्ण नीतिशास्त्र कटिबद्ध रहता है। देह के प्रबल और उद्याम-आकर्षण तथा सामाजिक विधि निषेधों और मर्यादाओं की दुर्वाहता के बीच डूबती-उतराती प्रीति का धूप-छाँही व्यापार इस उपन्यास का ऐसा आकर्षण है जो रोमानियत और प्रगतिशीलता को परस्पर पूरक बना देता है।"[55]

'सोनारवाणी के पार' एक तरीके से 'महिमा' में जो उद्याम प्रेम का संयमन भाई-बहन के संबंधों में रूपांतरित हो जाता है, वह 'सोनारवाणी के पार' में एक अलग कथानक के साथ आगे बढ़ता है। परन्तु प्रेमचन्द की परम्परा की प्रगतिशीलता के संवाहक गंगाप्रसाद मिश्र उसे

सामाजिक मर्यादाओं में बँधी रचनात्मकता के ऐसे बिंदु पर विराम देते हैं जहाँ- "कामगत यथार्थ और चरित्र की सुचिता के आदर्श की टकराहट की अनुगूँज तो है....स्त्री की स्वदेह की 'लड़ाई' की दीप्ति भी यहाँ पर है किन्तु; "सातवें दशक की स्त्री-मुक्ति कि चिंता पर केंद्रित यह उपन्यास देहराग को व्यावसायिकता में ढालकर रख देने वाली औपन्यासिक कृतियों से बिलकुल अलग है।"[56]

प्रो० दयाशंकर शुक्ल 'सोनारवाणी के पार' को एक कलात्मक-औपन्यासिक कृति मानते हैं। वह लिखते है- "'महिमा' चित्रित प्रेम को मनोवैज्ञानिक कहा गया लेकिन 'सोनारवाणी के पार' के प्रेम को प्रतीकात्मक कहा गया।"[57]

परन्तु उन्हें यह उपन्यास अपने शुरुआत की अपनी प्रारंभिक पंक्तियों से ही कलात्मक लगता है, "विरहणी की भाँति सदैव तड़पने और सिर पटकने वाली इस पहाड़ी 'सोनारवाणी' नदी के किनारे स्थित डाकबंगला स्नेहलता को अपनी पिछली कश्मीर यात्रा में ही इतना पसन्द आ गया था, जिसे प्रथम दृश्य में प्रेम हो जाना कहा जा सकता है।"[58] इसी क्रम में प्रो० दयाशंकर शुक्ल उपन्यास से दूसरा उदाहरण देते हैं- "पिछली बार जब वह यहाँ आयी थी तो एक अधखिली-कली की तरह थी, जिन्दगी एक सुनहरे सपने की तरह उसकी कल्पना की आँखों के सामने घूमती रहती थी और उसे ऐसा लगता था कि जैसे बचपन में घरोंदो को वह मनचाहा रूप से दे दिया कराती थी, वैसे ही अपने जीवन को भी दे देगी लेकिन, ऐसा होता कहाँ है।"[59] उपन्यासकार की इस भाषा की कलात्मकता में छायावादी गद्य की अनुगूँज तो है ही। गहन दृष्टि से देखे तो बचपन के घरौंदे का रूपक अप्रत्यक्ष रूप से उपन्यास के अन्त को प्रतीक रूप में उद्घाटित कर रहा है। इस उपन्यास की मूलकथा तो लखनऊ की है किन्तु आगरा, काशी तथा खैरागढ़ होती हुई कथा की परिणति कश्मीर की सुरम्य घाटी की सुन्दर 'सोनारवाणी के पार' डाक बँगले में पहुँचती है। उपन्यास में ट्यूटर अनुराग, लगता है 'पथ के काँटे' की पुनर्उपस्थिति है। 'सोनारवाणी के पार' की स्नेह, अनुराग को पहली भेंट से ही चाहने लगती है। इस बात को जानकर भी अनुराग उससे एक-दूरी बनाए रखता है। परन्तु अनुराग की पत्नी का निधन उसके लिए गहरा आघात था। परन्तु पत्नी के निधन का दु:ख व्याकुल अनुराग में धीरे-धीरे कम होने लगा। स्नेह ने भी अपने पति से कानूनी तौर पर तलाक ले लिया और अनुराग को इसकी सूचना भी दे दी। अब स्नेह और अनुराग के बीच प्रेमाधिक्य के विकास में कोई बाधा नहीं थी। इस बीच स्नेह संगीत महाविद्यालय में संगीत शिक्षिका भी हो गई थी। अतः छुट्टी लेकर वह कश्मीर का

कार्यक्रम बनाकर 'सोनारवाणी के पार' की डाक बँगले में पहुँची तो उसने अनुराग को भी वहीं आने के लिए आमंत्रित कर लिया। दोनों का आमना-सामना 'सोनारवाणी' के पुल पर हुआ। स्नेह अनुराग की बाँहों में भी आ गई- "पागलों की तरह उस (स्नेह) के मुख को अनुराग चुम्बनों से अंकित करने लगा लेकिन ये क्या....स्नेह की बाँहों में अनुराग का शरीर भारी पड़ने लगा। संभवतः उसे बेहोशी आ रही है। स्नेह ने सोचा, ड्राइवर की मदद से अनुराग को विस्तर पर जा लेटाया। दौड़कर वह मुँह पर छींटे देने को पानी लायी तो ड्राइवर बोला- रहने दीजिए मेमसाहब, साहब खत्म हो चुके हैं।"[60]

उपन्यास की अन्तिम पंक्तियाँ भी छायावाद के काव्यात्मक गद्य को उपन्यास के आरंभिक पंक्तियों की तरह लेखक ने कागज पर उतार दिया- स्नेह चीख मारकर अनुराग के शव पर गिर पड़ी, अंधेरा पृथ्वी पर उतर आया था और सोनरी नदी की लहरे पत्थरों पर सिर पटक रही थी।

'सोनारवाणी के पार' गंगाप्रसाद मिश्र के 'महिमा' उपन्यास में रह गई अर्द्धकथा का एक विस्तार तो है लेकिन यहाँ लेखक की प्रेमचंद की परम्परा और आदर्श के नाते कथा में जहाँ नैतिकता और अनैतिकता के प्रश्न आते हैं, लखनऊ का जन-जीवन आता है; वहीं 'सोनारवाणी' की कथा में दहेज, यौन-शोषण, अनचाहे-विवाह, वात्सल्य के अभाव, स्त्री के अधिकारों से वंचना, स्त्री-स्वातंत्र्य तथा देहाराग जैसी समस्याएँ भी अनुस्युत हैं। इस तरह 'सोनारवाणीके पार' में स्नेह के माध्यम से स्त्री की प्रेमागाथा तो है पर साथ ही संघर्षगाथा भी प्रगतिशील और मर्यादा पुष्ट है।

(६.) जहर चाँद का (१९७६) :

गंगाप्रसाद मिश्र के औपन्यसिक कृतित्व का छठवाँ पड़ाव 'जहर चाँद का' है। यह उनके नगरीय आंचालिकता वाले या अर्द्धनगरीय-आंचलिकता वाले पुरवर्ती उपन्यासों से अलग देश (विशेषतः उत्तर प्रदेश) के ग्रामीण इलाकों में मौजूद माध्यमिक शिक्षा के साथ ही ग्रामीण आंचलिकता को भी संस्पर्श करने वाला उपन्यास है। इसमें गंगाप्रसाद मिश्र द्वारा चयनित कथानक मुख्यत: उनके शिक्षा विभागीय और वह भी उनके सेवाकाल के अन्तिम वर्षों को समेटता है। उन्होंने इसकी भूमिका में लिखा है- "मेरा यह उपन्यास हमारी आज की शिक्षा-व्यवस्था तथा पद्धति से सम्बन्धित है।"[61]

गंगाप्रसाद मिश्र लम्बे समय तक उत्तर प्रदेश के राजकीय इंटर कॉलेजों में पहले तो

अध्यापक और फिर प्रधानाचार्य रहे। इसमें हरदोई तथा बलरामपुर जैसे छोटी आबादी वाले शहरों/जगहों से लेकर बुंदेलखंड के झाँसी और अवध क्षेत्र के बस्ती, फैजाबाद व सुल्तानपुर के छोटे शहरों के अलावा एक ओर यदि लखनऊ के दो राजकीय विद्यालयों (राजकीय हुसैनाबाद हाईस्कूल तथा राजकीय जुबली इंटर कॉलेज) के अनुभवों के साथ ही उनके जीवन में पश्चिमी उत्तर प्रदेश के रामपुर जैसे रियासती जिले में प्रधानाध्यापक के अनुभव रहे हैं। अपने सेवाकाल के अन्तिम लगभग ५ साल वे क्रमशः रायबरेली और गोंडा के जिला-विद्यालय निरीक्षक रहें तो जिले के सर्वोच्च शिक्षा अधिकारी के नाते उन्हें शहरी विद्यालयों के अलावा ग्रामीण क्षेत्र के हाईस्कूल और इन्टर कॉलेज के विद्यालयों के संचालन और उससे जुड़े शिक्षातंत्र एवं प्रबंधतंत्र के उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव और कालांतर में तो अभूतपूर्व अनुभव हुए। आजादी के बाद की भी उत्तर प्रदेश की शिक्षा और शिक्षा-व्यवस्था को भी उन्होंने नजदीक से देखा जाना था। परन्तु एक जिला-विद्यालय निरीक्षक के रूप में उन्होंने दो जिलों के ग्रामीण शिक्षा-व्यवस्था को जिस तरह देखा उसके अनुभव स्वरूप उन्होंने लिखा है, "हमारी शिक्षा 'सामूहिक-शिक्षा' बन गई है....वर्तमान शिक्षा प्रणाली जिस व्यवस्था के अनुसार चल रही है, उसके द्वारा वह छात्रों की योग्यता में आवश्यक अभिवृद्धि नही कर पा रही है। भाषा-शिक्षा के प्रति हमारी उदासीनता के कारण भावों को अपनी मातृभाषा में व्यक्त करने की शक्ति का विकास करने की ओर भी गम्भीरता से अब किसी का ध्यान नहीं है। फलस्वरूप छात्रों की संप्रेषण-शक्ति दयनीय हो गई।"[62]

आज जब हम इस उपन्यास को अपनी चर्चा के केंद्र में ले रहें हैं, तब हमारे यहाँ शिक्षा का वह ढाँचा, जिसे गंगाप्रसाद मिश्र ने देखते-जानते व समझते हुए 'जहर चाँद का' जैसा उपन्यास लिखा था, उसकी बदहाली आज अकथनीय हो गई है। यहाँ गंगाप्रसाद मिश्र का यह कथन बहुत प्रासंगिक है, हमारी शिक्षा प्रणाली का ढाँचा वह है, जिसकी रूपरेखा सैकड़ों वर्ष पहले लार्ड मैकाले ने इंग्लैंड में बनायी थी। तब से समय न जाने कितना बदल गया है। हमारा देश स्वतंत्र हो गया है, हमारी आवश्यकताएँ बिल्कुल भिन्न प्रकार की हो गई हैं। परन्तु शिक्षा के उसी रूप की अर्थी हम ढोए चले आ रहें हैं। इस तथ्य को स्वीकार कर लेने के बाद भी इसके सुधार के लिए कोई ठोस प्रयास नहीं हो रहा है। 'जहर चाँद का' उपन्यास इसी चिंता और शिक्षा क्षेत्र में गंगाप्रसाद मिश्र के अनुभवों का औपन्यासिक स्वरूप है।"[63]

इस उपन्यास का आरंभ उत्तर प्रदेश के रामनगर के विद्यामंदिर इण्टर कॉलेज के

अध्यापकों के इंटरव्यू से होता है। उपन्यास ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, कॉलेज तथा कॉलेज के अध्यापक कौशल के माध्यम से हमारी शिक्षा की वह दशा-दिशा सामने आती जाती है, जिसे बतौर लेखक और जिला-विद्यालय निरीक्षक गंगाप्रसाद मिश्र ने नजदीक से देखा और गहरे तक अनुभव किया है। डॉ० शशिभूषण सिंघल का मानना है- "यह उपन्यास श्रीलाल शुक्ल के चर्चित उपन्यास 'रागदरबारी' से तुलनीय है....'जहर चाँद का' में भी जहाँ-तहाँ व्यंग्य का पुट है किन्तु; उपन्यासकार का मूल लक्ष्य इस व्यवस्था का टूटने का दर्द गहराई से पाठकों तक संप्रेषित करना है।"[64]

पूरा उपन्यास सातवें-आठवें दशक, विशेषरूप से आठवें दशक में उत्तर प्रदेश की बदहाल शिक्षा-व्यवस्था की कलई खोलता है- "गाँव जातिवाद और गुटबंदी के आधार पर नेता बनने और पैसा कमाने वाले लोग विद्यालयों के व्यवस्थापक बन गए, अवसरवादी लोग प्रिंसिपल।....और कहीं काम न पा सकने वाले युवक अध्यापक पद को सुशोभित करने लगे।....व्यवस्थापक फल खाता है, प्रिंसिपल सबको प्रसन्न रखता और मौज करता है। अध्यापक अपने धंधों में व्यस्त हैं, वे लोग डर से छात्रों को परीक्षा में नक़ल कराते है तथा मनचाहे अंक देते हैं।....इसमें पीड़ित केवल पढ़ने वाले विद्यार्थी और कर्तव्यनिष्ठ अध्यापक ही हैं।"[65]

अब ऐसे में देश की शिक्षा और देश जहाँ भी जाए, गंभीरता से पढ़ने वाले विद्यार्थी और नगण्य अल्पसंख्यकों जैसे कर्तव्यनिष्ठ अध्यापक, ऐसी पतन-शील शिक्षा-व्यवस्था को उबारने के लिए कुछ करें भी तो सिवाय निराशा, क्षोभ और विफलता के उन्हें मिलेगा ही क्या। 'जहर चाँद का' के अध्यापक कौशल पर जो प्राणघातक प्रहार होता है, वह लेखक के शब्दों में तो मूर्छा तक ही सीमित रह गया है लेकिन सुलतानपुर के 'बेलहरी इण्टर कॉलेज' के जाने-माने कवि मानबहादुर सिंह तो अपने विद्यालय के प्रबंधतंत्र के वर्चस्ववादी झगड़े में विद्यालय परिसर के अन्दर ही प्राणाघातक हमले से अपनी जान गवाँ बैठे थे। (२४ जुलाई, १९९७)। 'जहर चाँद का' के कौशल की सच्चाई की पराकाष्ठा वास्तविक जीवन में हुई। कवि/लेखक मानबहादुर सिंह की दिन-दहाड़े हत्या ऐसा सच है जहाँ गंगाप्रसाद मिश्र के उपन्यास 'जहर चाँद का' यथार्थवाद हमें अपनी पराकाष्ठा के दर्शन कराता है। अन्ततः कह सकते हैं कि 'जहर चाँद का' हमारे राष्ट्रीय-जीवन की मूल समस्या शिक्षा को जैसे कथासूत्र में समेटता है, उस दृष्टि से यह उपन्यास २०वीं शताब्दी के ७वें-८वें दशक का अविस्मरणीय दस्तावेज है।

(७.) मुस्कान है कहाँ (१९८२) :

'मुस्कान है कहाँ' राष्ट्र की शान का नारा देश में गुंजाने वाले अंतरराष्ट्रीय बाल वर्ष के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया गंगाप्रसाद मिश्र का सातवां उपन्यास है। इसका केंद्र विभिन्न वर्गों और विभिन्न स्तरीय परिवारों के बीच बच्चों की वास्तविक स्थिति क्या है इस यथार्थ का प्रक्षपण है। गंगाप्रसाद मिश्र ने इसे बड़े चुहल के अंदाज में "अकाविता और अकहानी के बाद अब आप एक अ-उपन्यास झेलिए कहा है।"[66] जाहिर है यह एक प्रायोगिक उपन्यास है, जिसमें परंपरागत और औपन्यासिक ढांचा नही है। गंगाप्रसाद मिश्र ने इस उपन्यास के बारे में "अपनी बात के अंर्तगत लिखा है....इस रचना द्वारा मैने उन करोड़ों उपेक्षित बालकों की ओर माता-पिता तथा समाज के नियामकों का ध्यान आकर्षित करने की चेष्ठा की है। मेरे एक साहित्यिक मित्र ने, जिन्होंने पूरी रचना पढ़कर कुछ बहुमूल्य सुझाव दिए थे, आरम्भ में यह भी कहा था कि ये अलग-अलग पात्रों की कथाएँ 'केसहिष्ट्री' बनकर न रह जाएँ।....रचना के ढाँचे के कारण यह कार्य बहुत सुगम न था इसलिए मैंने पात्रों को जबरदस्ती एक-दूसरे से मिलाया नहीं है, जिससे स्वाभाविक रूप से वे एक-दूसरे से मिल सके हैं, उन्हीं पर मैने संतोष कर लिया है।"[67] जाहिर है कि ये समस्यामूलक यथार्थवादी-उपन्यास समाधान नहीं प्रस्तुत करता। शायद कर भी नहीं सकता क्योंकि; यह लेखकीय-कल्पना से समाधान पाने वाला विषय है भी नहीं। इस उपन्यास में गंगाप्रसाद मिश्र समाज की हर पीढ़ी और हर वर्ग और हर परिवार के केंद्र में बच्चों के बदहाल और विसंगत भविष्य के बजाय उज्ज्वल भविष्य की कामना करते है। बच्चों के स्वास्थ्य और उनकी शिक्षा को सचमुच हम कितना दे पायें हैं, कई शिक्षा-नीतियों को बनाने और क्रियान्वयन करने के बाद भी यह सवाल हमारे सामने मुँह बाये खड़ा है।

'मुस्कान है कहाँ' में प्रकटत: तो लखनऊ नहीं है पर उपन्यास का सारा परिवेश और उसके वर्गीय चरित्र और पात्र लखनऊ के हैं, जो प्रकारान्तर से हमारे सामने पूरे देश में बच्चों की असली जिंदगी को लाते हैं।

यह उपन्यास गंगाप्रसाद मिश्र के अन्य उपन्यासों की दृष्टि में कलेवर में छोटा होकर भी प्रतिपाद्य की दृष्टि से अनोखा है। इसे पढ़ते हुए मन्नू भंडारी का 'आपका बंटी' और डॉ० प्रताप नारायण टंडन का 'अंधी दृष्टि' / 'अंधी दुनिया' (डॉ. टंडन का उपन्यास इन दोनों ही शीर्षकों से छपा था) संभवतः भीष्म साहनी का 'गुलेल' भी इसी क्रम में याद किया जा सकता है किन्तु;

'मुस्कान है कहाँ' में समस्या को जिस व्यापक सामाजिकता में और बच्चों के बहुवर्गीय और बहुस्तरीय जीवन को प्रक्षेपित करते हुए लिखा गया है, उस दृष्टि से हमें खुद गंगाप्रसाद मिश्र के बचपन के प्रसंग याद आ जाते हैं- "गंगाप्रसाद मिश्र ने एक उम्र (तीन वर्ष) के बाद पितृ विहीन और ८ वर्ष के बाद मातृ विहीन बचपन ही बिताया था। घर-परिवार से लेकर पास-पड़ोस व समाज के बीच बच्चों से जुड़े कष्ट-कसाले उन्होंने जिए, भोगे और नजदीक से देखे थे।....अध्यापक से जीवन शुरू कर मिश्रजी ने परतंत्र भारत से लेकर स्वतंत्र भारत के विकास के दौर में भी देश-समाज में बच्चों का विसंगतिपूर्ण जीवन बहुत नजदीक से देखा और अपनी कहानियों तथा उपन्यासों में उस सबको अंतरंगता से प्रक्षेपित किया!"[68]

'गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली' की संपादिका डॉ. इन्दु शुक्ला ने कहा है। इस उपन्यास का ताना-बाना मिश्रजी ने १९७७-१९७८ से ही बुनना शुरू कर दिया था-- "हम लोगों ने एक साहित्यिक संस्था बड़ौदा में आरम्भ कर दी थी, चाचा (मिश्रजी को उनके बच्चे ताजिंदगी 'चाचा' ही संबोधन देते आए) उसमें बहुत उत्साह पूर्वक भाग लेते। बड़ौदा की १५/०१/१९७८ और ११/०२/१९७८ की गोष्ठियों के विवरण में उनके हस्ताक्षर विद्यमान है। उस समय वह 'मुस्कान है कहाँ' उपन्यास लिख रहे थे और उसके कुछ अंश उन्होंने गोष्ठियों में सुनाए थे। इसकी सूचना भी उस रजिस्टर से प्राप्त हो जाती है।"[69]

"दरअसल १९७५, जनवरी में सेवानिवृत्ति के बाद लेखन को पूर्णतया समर्पित गंगाप्रसाद मिश्र के पास बतौर लेखक अवसर के साथ पर्याप्त समय भी था कि देश में उपेक्षित, दुर्दशाग्रस्त, असंगत-विसंगत स्थितियों में जीते विविध स्तरीय बच्चों और उनके बचपन को वह अपने लेखन की विषय वस्तु बनाएँ।"[70] यहीं गंगाप्रसाद मिश्र से किए गए एक साक्षात्कार का अंश भी उद्धृत करना प्रासंगिक है- प्रश्न था 'आप यथार्थ को कथा-रचना में समोते है या कथा-रचना में यथार्थ की रंगत देते हैं', पूछने पर गंगाप्रसाद मिश्र का उत्तर था- "मैं यथार्थ को कथा-रचना में समोता हूँ।" इस क्रम में अपनी बात को उन्होंने और भी स्पष्ट कर दिया था- "मैं सोद्देश्य साहित्य-सृजन में विश्वास रखता हूँ। इसलिए यथार्थ को जैसा का तैसा रिपोर्ताज लिखने वाले अखबार नवीस की तरह से ही नहीं रख देता। अपने लेखकीय-व्यक्तित्व के अनुरूप; अपनी मान्यताओं के अनुसार 'असंयमित कथ्य' को मर्यादित-परिमार्जित भाषा रूप में कथा-रचना में अनुस्यूत करता हूँ; जिसे आप चाहें कह सकते हैं-- "आदर्श का रेगमॉल' लगाता हूँ।"[71]

'मुस्कान है कहाँ' पर हिन्दी की समीक्षा आलोचना में 'आपका बंटी' जैसी चर्चा तो नही हुई शायद औपचारिक या चलताऊ टिप्पणीनुमा समीक्षा तक 'मुस्कान है कहाँ' के हिस्से नहीं आई। ऐसी विशिष्ट-कृति का उपेक्षित-अचर्चित रह जाना हिन्दी में आश्चर्य जनक नहीं है।

(८.) रांग साइड (१९९१) :

'रांग साइड' गंगाप्रसाद मिश्र का अंतिम उपन्यास है। चूँकि गंगाप्रसाद मिश्र छात्र-जीवन से ही हॉकी, फुटबाल, क्रिकेट आदि खेलों के अच्छे खिलाड़ी रहें हैं और खेलों में रुचि के नाते वे सरकारी नौकरी के सेवाकाल में अपने विद्यार्थियों के अच्छे 'कोच' भी रहें हैं। उन्होंने खेल जीवन पर कई कहानियाँ लिखी है। अपनी 'परिभाषाओं में की कगार' कहानी को इन्होंने रेडियो नाटक के रूप में भी रूपांतरित किया। इसी कहानी को विस्तार देकर उन्होंने जब उपन्यास लिखना चाहा तो उन्हीं दिनों वे 'पारकिंसन' रोग की चपेट में आ गए। अतः अपने हाथों से 'रांग साइड' उपन्यास उन्होंने कितना लिखा और कितना किससे बोलकर लिखवाया; इस सम्बंध में उन्होंने दर्ज कर दिया है- "लगभग दो वर्ष पहले इसका पहला अध्याय (१९८९) लिखा गया था फिर 'पारकिंसिज्म और जॉन्डिस से पीड़ित होने के कारण मेरा हाथ से लिखना सम्भव न रहा। आवश्यकता इस बात की थी कि किसी को डिक्टेशन देकर इसे पूरा किया जाए। यह कार्य चंडीगढ़ में सौभाग्यवती बेटी मंजू द्वारा संपन्न हुआ, जिसने दूसरे और तीसरे अध्याय लिखे, जामात्र डॉ० जयप्रकाश ने इस कार्य में मुझे सब प्रकार की सुविधा उपलब्ध कराई।"[72] अन्तत: इस उपन्यास को उन्होंने बोलकर लिखवाते हुए समाप्त किया। यदि उनकी विवशता बोलकर लिखवाना न होती तो निश्चित रूप से यह कथ्य को और विस्तार देकर लिखा हुआ हिन्दी में खेल जीवन पर (जिसका की हिंदी में बहुत अभाव है) उत्कृष्ट उपन्यास होता। बोलकर लिखवाने में इस उपन्यास का कथा-विन्यास उन्हें कॉफी सीमित करना पड़ा।

"इस उपन्यास के केंद्र में एक परिवार (माता-पिता) की तीन लड़कियाँ हैं, जिन्हे पिता खिलाड़ी बनाना चाहते हैं। चूँकि यह परंपरागत परिवार भी है। अतः पत्नी का कहना है कि लड़की की शादी हो जाए और वे घर-परिवार सँभाले, इसके विपरीत (जागरूक खेल-प्रेमी पिता) ने बेटे के अभाव में अपनी तीन बेटियों को खिलाड़ी बनाने का निश्चय कर डाला। उन तीन बहनों को खेल की दुनिया में क्या-क्या अड़चनें आयी, समाज ने उन्हें किस रूप में देखा, उनका दांपत्य -जीवन कैसा रहा और उन्हें जीवन के कैसे खट्टे-मीठे अनुभव हुए, यह छोटा-सा उपन्यास इसी

की कहानी हैं।"[73] डॉ० मंजू शर्मा (लेखक गंगाप्रसाद मिश्र की सबसे छोटी बेटी) ने 'रांग साइड में स्त्री पक्ष' शीर्षक अपने लेख में लिखा है, "यह चाचा का अंतिम उपन्यास है। वह उन दिनों बहुत बीमार थे, इनके हाथ काँपते थे और उनका चलना-फिरना मुश्किल हो गया था। वे मेरे पास चंडीगढ़ आ तो गए थे लेकिन; उनका मन लखनऊ में ही रचा-बसा था। उनमें न जिजीविषा कम हुई थी और ना रचना-कर्म के प्रति लगन की कमी आयी थी। उन्होंने ऐसे कठिन समय में मुझे यह उपन्यास 'रांग साइड' बोल-बोलकर लिखवाया था। चाचा का खेलों के प्रति शौक बहुत बड़ा था। वे हॉकी का मैच खेलने लाहौर तक गए थे। एक बार जब ये मेरे पास अमृतसर आए थे तो हम खालसा कॉलेज अमृतसर के सामने से जैसे ही गुजरे तो उसकी इमारत को देखते ही बोले-कि इसके कोने वाले कमरे में मैं ठहर चुका हूँ। इस उपन्यास के नामकरण को लेकर चाचा (मेरे पिता) और 'इन (मेरे पति) के' डॉ. जयप्रकाश के बीच कई दिनों तक बातें होती रही। 'इनकी' भी (मेरे पति) हॉकी में रुचि रही है। हॉकी के नियमों में एक 'फाउल' होता था। जब हॉकी की उल्टी तरफ से गेंद लग जाता था या कोई खिलाड़ी की बॉयी ओर जाकर गेंद छीनने की कोशिश करता था, इस गलती या फाउल को 'रांग साइड' कहा जाता था।

हॉकी के खेल के नियमों से उठाया गया 'रांग साइड' शब्द उपन्यास के शीर्षक के रूप में रखा गया तो मंशा साफ थी कि स्त्रियाँ जब खेल को जीविका या जीवन का ध्येय बनाती हैं तो पारंपरिक-समाज में बहुत बड़ा खतरा मोल लेती है, जो उनके लिए या अभिभावकों के लिए पछतावे का कारण बनता है।"[74] यही समस्या गंगाप्रसाद मिश्र के उपन्यास 'रांग साइड' के केंद्र में है।

'रांग साइड' उपन्यास तीन खण्डों में बटा है। पहले हिस्से में पिता चैतन्य स्वरूप....तथा उनकी पत्नी प्रतिभा का पारिवारिक सुख वर्णित है। वे लेखकीय आदर्शों तथा रुचियों का अपने व्यक्तित्व में प्रतिनिधित्व करते हैं। वे खेल-प्रेमी हैं, प्रगतिशील विचारों के व्यक्ति हैं....राष्ट्रीय गौरव के प्रति उनकी चिंता निरंतर बनी रहती है। वे सामाजिक रूढ़ियों के विरोधी हैं। वे समय के साथ समाज में भी बदलाव के हिमायती हैं इसीलिए वे अपनी तीनों लड़कियों 'मोना', 'दर्शिका' और 'अलका' को श्रेष्ठ खिलाड़ी के रूप में विकसित और प्रसिद्ध देखना चाहते हैं।"[75]

इस उपन्यास में गंगाप्रसाद मिश्र की कहानी 'परिभाषाओं की कगार' आरंभिक अंश में आयी है। शेष उपन्यास नई रचना-दृष्टि से ज्यादा औपन्यासिक एक सृष्टि है। उपन्यास में बड़ी

बेटी 'मोना' भारतीय समाज में स्त्री की उस विवशता का प्रतिनिधित्व करती है। बैडमिंटन की श्रेष्ठ खिलाड़ी होने के बावजूद उसे ससुराल के दबाव में खेल जीवन से संन्यास लेकर अपने पिता के सपने को अवरोधित करना पड़ता है, जहाँ वो खेलना तो दूर हँसना भी भूल जाती है और उसे लगभग असूर्यस्पर्श्या-जैसा जीवन जीना पड़ता है।

चैतन्य-प्रतिभा दम्पत्ति की दूसरी बेटी 'दर्शिका' की कथा में एक ऐसी लड़की के खिलाड़ी जीवन का ध्वंस दिखाया गया है, जो स्त्री की निजता और अस्मिता की प्रबल-पक्षधर है। दर्शिका अपनी बड़ी और गंभीर बहन मोना की अपेक्षा हँसोड़, चुलबुली और कुछ अधकही बोलने वाली है। वो वॉलीबाल की कुशल खिलाड़ी है इसलिए उसकी प्रिंसिपल उसे अपने डिग्रीकॉलेज से विश्वविद्यालय नहीं जाने देतीं। पिता के सपने को साकार करने के लिए दर्शिका अग्रणी खिलाड़ी बनती गई। प्रगतिशील दृष्टिकोण के साथ ही व्यावहारिक सोच भी उसके विचारों में है। अपने कोच अविनाश टंडन से वह इस शर्त पर शादी कराती है कि मेरे अस्तित्व को नहीं नकारोगे, मेरे अधिकार बराबर के रहेंगे और मैं दर्शिका श्रीवास्तव ही रहूँगी और जब भी हममें आपस में न पटेगी तो हम हँसी-खुशी अलग होने के लिए भी स्वतंत्र होंगे। परन्तु अविनाश टंडन पुरुषवादी सत्ता और तनाव के नाते जब 'तुम हमें एक बेटा दे दो'- कहते हुए दबाव डालता है तो वॉलीबाल की खिलाड़ी दर्शिका ने कहा, "अभी आठ-दस वर्ष मै अपने को खेल के प्रति ही समर्पित रखना चाहती हूँ। बच्चे को जन्म देने का अर्थ अपनी खेल साधना में बाँधा डालना होगा। तो अविनाश बिखर गया और दोनों के बीच चले वाद-विवाद के बाद अन्ततः आस्ट्रेलिया में होने वाले महिला वॉलीबाल मैच के लिए जाने से पहले दर्शिका ने उससे पारस्परिक-सहमतीपूर्ण तलाक के कागजात सामने रख दिए और कहा-- 'मैं जल्दी से जल्दी तुम्हें अपना नया जीवन आरम्भ करने के लिए मुक्त कर देना चाहती हूँ।'

अंतिम और तीसरा अध्याय चैतन्य और प्रतिभा स्वरूप की तीसरी व सबसे छोटी बेटी 'अलका' पर केंद्रित है। वह बेटे की तरह माँ-बाप के आखिरी दिनों का सहारा बनना चाहती है। 'अलका' हॉकी की खिलाड़ी थी। विश्वविद्यालय में पढ़ने गई तो वहाँ महिलाओं की हॉकी टीम बनाने में कामयाब हुई। अंतर-विश्वविद्यालय हॉकी प्रतियोगिता में अपने विश्वविद्यालय की महिला टीम को दो गोल की विजय दिलायी और बड़ी बहन 'दर्शिका' की तरह लोगों के व अखबारों के लिए 'खेल स्टार' बन गई। यूनिवर्सिटी के स्पोर्ट-डायरेक्टर उसे, अपनी उम्र तथा उसकी उम्र के अन्तराल को भूलकर कुछ आगे ही बढ़े और अलका को अपनी अर्द्धसंगिनी

बनाना चाहा तो उसने जूडो का वह दाँव दिखाया कि वे चारों खाने चित्त गिरे।

"स्टेडियम के नए खेल निर्देशक महेंद्र प्रताप हॉकी के प्रसिद्ध खिलाड़ी साथ ही पुराने रईस खानदान के गुणी-अवगुणी थे। सुरा-सुन्दरी उनकी भी कमजोरियाँ थी। खिलाड़ियों को खुद कोच भी किया करते थे।उन्हीं की देखरेख में प्रदेश की टीम ने अन्तर प्रांतीय हॉकी प्रतियोगिता में ट्रॉफी जीती। अतः उन्हें भारतीय हॉकी टीम का कोच नियुक्त किया गया तो अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिता में चयनित महिला खिलाडियों में अलका का नाम देखकर वे उस पर लट्टू हो गए। कठिन परीक्षण से गुजरकर अलका अंततः उन २५ खिलाड़ियों में भी आ गई, जिनमें से १५ का चुनाव अंतरराष्ट्रीय हॉकी टीम में होना था। एक दिन महेंद्र प्रताप ने अलका को अपने कमरे में बुलाया और बोले- मुझे तुम्हारा खेल पसन्द है और तुम भी....तुम चाहती भी होगी कि देश की टीम में तुम चली जाओ, इसके लिए तुम्हें मेरी बनना होगा।"[76]

अगर मैं आपकी बात न मानूँ,अधिकारियों से शिकायत करूँ, अखबारों में वक्तव्य दूँ कि टीम में चयन के लिए आपने यह शर्त रखी।

"इससे तुम्हें हासिल कुछ नही होना है, बदनाम अवश्य हो जाओगी। मै कह दूँगा कि इसने मुझे ब्लैकमेल करने की धमकी दी....अखबारों, संपादकों और संवाददाताओं से मेरे ऐसे संबंध हैं कि वे मेरे विरुद्ध कुछ भी न छापेंगे....मुझे खुश रखोगी तो तुम्हे ऊँचा-ऊँचा पद मिल सकना मेरे बाँए हाथ का खेल है।"[77]

"और अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए अलका गई। टीम के मैनेजर और कोच महेंद्र प्रताप की कृपा-पात्री होने से उसे वी-वीआईपी ट्रीटमेंट मिलता रहा। अपने खेल से भी वह अच्छी ख्याति अर्जित करती रही....अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं, प्रसारण माध्यम में छा गई कि एक सुबह अलका ने अखबार उठाया तो बॉक्स में समाचार था- काल दुर्घटना में खेल निदेशक महेंद्र प्रताप की मृत्यु। अब खेल निर्देशालय का नक्शा ही बदल गया। संयुक्त खेल निदेशक ने कार्यभार सँभाला, पर वे पूर्व खेल निर्देशक से खींचे रहे। अतः महेंद्र प्रताप के कृपा पात्रों और निकटस्थों को उन्होंने काटना शुरू किया। अलका भी इसकी शिकार हुई। अलका उनसे मिली तो बोले- "महेंद्र प्रताप के विरुद्ध लिखकर दी गई शिकायतों में आपका और उनके सम्बन्धों का भी उल्लेख है, जिससे वह बहुत परेशान थे....उनके द्वारा की गई गलतियों को दोहराकर मैं आफत क्यों मोल लूँ आप मुझे माफ कर दो।

"इसके बाद अच्छी खिलाड़ी होने के बावजूद अलका नौकरी पाने के लिए जहाँ भी गई निराशा ही हाथ लगी। खेल की दुनिया की राजनीति के कारण वह भारतीय टीम में भी जाने से वंचित होती गई। स्थिति दिन-प्रतिदिन विषम होती गई। इस सबसे हताश-निराश पिता भी उससे सिवाय हँस के बोलने के और कुछ नही कह पाते थे- 'बेटी तुम इतनी उदास क्यों हो? मेरे रहते हुए तुझे परेशान रहने की क्या जरूरत है!'

"पर वह सोचती- खेल के क्षेत्र में उपलब्धि के लिए मैने क्या कुछ नहीं किया, जीवन से मुँह मोड़ लिया, मातृत्व के स्वर्गिक आकर्षण का मोह त्याग दिया, जिस कौमार्य को चढ़ती अवस्था तक अक्षुण्य रखा था उसे भी दाँव पर लगा दिया। बदले में पाया क्या? कुंठाग्रस्त जीवन और अभाव का संसार।"[78]

इस तरह चैतन्य स्वरूप की तीनों बेटियों में बड़ी बेटी का खेल जीवन समाप्त हो गया, मझली बेटी दर्शिका ने स्वतंत्र-जीवन का वरण किया तो उसे न किसी पुरुष में दिलचस्पी रही और न पत्नीत्व और मातृत्व में। तीसरी बेटी अलका का भी खेल जीवन एक प्रकार से विराम के मुहाने पर ही पहुँच गया था। ऐसे में सेवानिवृत्त जीवन जीते चैतन्य स्वरूप ने अपनी फण्ड, ग्रेच्युटी का आधा अलका के हिस्से में भले डाल दिया हो, पर वह सोचते-- क्या प्रतिभा ठीक कहती थी- मैने बेटियों को खिलाड़ी बनाने का निर्णय लेकर सचमुच भूल की। बड़ी बेटी मोना गृहणी बन गई, दर्शिका ने विवाह जीवन और मातृत्व को ठोकर मार दिया। भले ही वह तुलनात्मक दृष्टि से बेहतर स्थित में रही किन्तु; पर अपने कौमार्य-जीवन को दाँव पर लगाकर मेरी फूल सी कोमल अलका को हाथ क्या लगा?

अन्ततः चैतन्य स्वरूप चिंताओं के माध्यम से--- अथवा उपन्यास में आए बहुत सारी समस्याओं और सवालों पर आकर या उन्हें उठाते हुए 'रांग साइड' जहाँ पर खत्म होता है, 'वह खेल के प्रति हमारे सोच के, हमारे पारंपरिक और नए तथा भौतिकता भरे जीवन में उसकी जगह और अहमियत के' हमारे देश में खेल-खिलाड़ियों और खेल जीवन के बीच जो राजनीति और परिदृश्य में जो वातावरण है, उन सब पर सोचने को यह उपन्यास विवश करता है। क्रमशः कमतर पृष्ठों के होते जाते अध्यायों में कथा-विन्यास भी संकुचित होता और सिमटता गया है।....इस सबके बावजूद हिन्दी में कम लिखे जाने वाले खेल-विषय पर 'रांग साइड' ध्याकर्षक उपन्यास है।....इस औपन्यासिक-प्रयत्न की उनके उपेक्षित रहे लेखन की तरह कोई चर्चा नहीं

हुई। शायद इसलिए कि हिन्दी आलोचक और समीक्षक, खोज, चुन और तलाशकर भी चींजे चर्चा के लिए नहीं रखता, यह कोई अच्छी स्थित नहीं है।"[79]

१.६ गंगाप्रसाद मिश्र की कहानियों में सम-सामयिक लखनऊ और उसकी प्रासंगिकता

पं. गंगाप्रसाद मिश्र लखनऊ की हिन्दी कथा-चतुष्टयी के सशक्त स्तम्भ हैं। माँ से कहानी सुनने से उन्हें विकल्प रूप में प्रेमचंद की कहानियाँ सर्वाधिक भायीं, जिसके वे ७-८ साल की उम्र से ही पाठक हो गए। इस हद तक की एक समय के बाद जब वह प्रेमचंद का सारा साहित्य पढ़ चुके थे, तब कभी भी जब प्रेमचन्द का नया छपता, विशेष रूप से कहानी-उपन्यास तो उसे भी वह कहीं न कहीं से जुटाकर पढ़ अवश्य लेते थे। इसका एक असर तो यह रहा कि गंगाप्रसाद मिश्र जब १७ वर्ष के थे, तब उनकी पहली कहानी 'आडंबर' कान्यकुब्ज पत्रिका लखनऊ में छपी थी। और दूसरी कहानी 'मिलन' सितम्बर १९३४ में लखनऊ के 'कान्यकुब्ज' कॉलेज की पत्रिका में छपी। आरंभ में लगभग १०-१५ वर्षों तक गंगाप्रसाद मिश्र पर प्रेमचन्द के कथा-लेखन तथा उनकी भाषा-शैली का इतना जबरदस्त प्रभाव था कि उनकी लिखी हुई कहानियाँ बिल्कुल प्रेमचन्द की कहानियाँ जैसी लगती थी। इस पर अक्सर लोग कहते कि क्या 'वही प्रेमचंद टाइप' लिखते हैं। इसे गंगाप्रसाद मिश्र ने अपने लिए सदैव एक बड़ा सर्टिफिकेट माना किंतु; जैसा कि होता है, हर लेखक के लेखन के विकास के साथ उसकी भाषा-शैली विकसित होते हुए बदलती है। गंगाप्रसाद मिश्र का कथा-लेखन भी अपनी नयी और विकसित भाषा-शैली के साथ आगे बढ़ा है।

गंगाप्रसाद मिश्र प्रेमचंद की प्रगतिशील लेखन की परम्परा के कथाकारों; विशेष रूप से लखनऊ के अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा और यशपाल के क्रम में चौथे महत्वपूर्ण कहानीकार है। इसका कारण प्रेमचंद को बचपन से ही बहुत पढ़ने के बावजूद यह भी रहा कि लखनऊ में ही निराला, रामविलास और पढ़ीसजी के साथ इनका परिचय हुआ और फिर प्रगाढ़ता हुई तो इस मुलाकात के बाद हुए प्रगतिशील लेखक संघ के लखनऊ में हुए पहले अधिवेशन में जब वे प्रेमचंद से दूसरी बार मिले तो उन्होंने गंगाप्रसाद मिश्र को प्रगतिशील लेखक संघ का सदस्य बनाया था। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण अवसर वह था, जब बीमारी की हालत में जुलाई-अगस्त १९३६ में प्रेमचंद इलाज के लिए लखनऊ आए थे तो गंगाप्रसाद मिश्र का नाम इस हद तक याद रहा कि अपने कहानियों, उपन्यासों के जबरदस्त पाठक के नाते उन्होंने

गंगाप्रसाद मिश्र को मिलने के लिए बुलवाया और इसी क्रम में बाद में, जब यह पता चला कि ये जनाब मेरे जबरदस्त पाठक ही नहीं बल्कि; नये कहानी लेखक भी है तो प्रेमचंद ने गंगाप्रसाद मिश्र से नाराजगी जताते हुए कहा कि जाइए और अपनी कोई कहानी लाकर मुझे सुनाइए। तब लखनऊ विश्वविद्यालय की कहानी प्रतियोगिता में पुरस्कृत 'महराजिन' कहानी लाकर प्रेमचंदजी को युवा लेखक गंगाप्रसाद मिश्र ने यह सोचकर सुनाई कि यदि यह प्रेमचंदजी को पसन्द नही भी आयी तो मैं यह कह सकूँगा कि यह लखनऊ विश्वविद्यालय की कहानी प्रतियोगिता में पुरस्कृत है। परन्तु 'महराजिन कहानी' सुनते हुए प्रेमचंद ने उसे पसन्द ही नहीं किया बल्कि; सराहते हुए कहा, 'अरे गंगाप्रसाद, तुमने तो मेरी कलम ही छीन ली।' ये कहानी 'दहेज' न मिलने के कारण वर-पक्ष द्वारा बहू विदा कराए बगैर 'बारात' लौटा ले जाने पर केंद्रित थी। तब प्रेमचंदजी ने इस नए कहानीकार से कहा था- गंगाप्रसाद 'तुमने तो मेरी कलम ही छीन ली'। तुममें प्रतिभा है, तुम हमेशा लिखते रहना। लिखना कभी मत छोड़ना आदि।'

प्रेमचन्द का यह कथन गंगाप्रसाद मिश्र ने आजीवन के लिए गाँठ बाँध लिया था। अतः उन्होंने चाहे दो-चार पन्ने ही लिखे हों, पर वह आजीवन रोज लिखने का क्रम बनाए रखा। फलस्वरूप लगभग आधा दर्जन कथेतर और बालसाहित्य के अलावा उनके आठ कहानी संग्रह और आठ उपन्यासों से हिन्दी साहित्य समृद्ध हुआ है।

यहाँ हम गंगाप्रसाद मिश्र की कहानियों पर चर्चा करेंगे-

गंगाप्रसाद मिश्र का जन्म खंडवा मध्यप्रदेश में हुआ, पिता तीन साल की उम्र में गुजर गए और लगभग ७ वर्ष की उम्र में माँ के निधन के बाद वह अपने बड़े तीन भाइयों के साथ लखनऊ आए। तब से इसी लखनऊ में उन्होंने पढ़ा-लिखा, यहीं बड़े हुए और यहाँ के जन-जीवन को बहुत नजदीक और गहराई से देखा। यही कारण है कि अमृतलाल नागर के बाद केवल गंगाप्रसाद मिश्र ही है, जिनकी कहानियों में (और उपन्यासों व कथेतर साहित्य में भी) लखनऊ का जन-जीवन धड़कता और उपस्थित मिलता है। अन्तर केवल यह कि अमृतलाल नागर के यहाँ नवाबी दौर का पुराना लखनऊ और उनके चौक क्षेत्र का जन-जीवन ही उभरकर आता है, जो पूरे लखनऊ के जन-जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं करता! इसे पूरा करते हैं गंगाप्रसाद मिश्र के उपन्यास और कहानियाँ। यह नागरजी के लेखन के प्रक्षेपण से अलग 'शेष लखनऊ' है, जो लखनऊ से सीतापुर जाने वाली रेलवे लाइन के पूरब में बढ़ता गया है।

अतः अमृतलाल नागर के कथा और कथेतर-साहित्य के साथ जब तक गंगाप्रसाद मिश्र का कथा-साहित्य और कथेतर-साहित्य नही पढ़ा जायेगा, तब तक कोई भी पाठक समग्र लखनऊ का साहित्य में परिचय नहीं पा सकेगा।

कवि कथाकार अशोक चंद्र ने- "लेखक होने की पीड़ा में गंगाप्रसाद मिश्र के कथाकार जीवन का आकलन करते हुए लिखा है। छः दशकों की लंबी लेखन यात्रा उनके सामने है पर....उसमें कोई बड़बोलापन कभी नही रहा।....शारीरिक व्याधियों ने उन्हें थोड़ा विरागी-स्वर जरूर दिया। बेमन से उन्हें अपन देखा-जिया हुआ लखनऊ छोड़कर दिल्ली जाना पड़ा, पर उन्हें दिल्ली रास नहीं आई....उनकी कहानियों में विषय और प्रस्तुतीकरण की विविधता पाठक को बराबर आकर्षित करती रही है। उनका अनुभव-क्षेत्र उनकी कहानियों में विभिन्न वर्गों व विचार और स्तर की पड़ताल करता है।....मिश्रजी अपने व्यापक दृष्टिकोण के बल पर यथार्थ अनुभव में संस्मृत करते चलते है और यह रचनाकर्म न केवल परिमाण में बल्कि अपनी सहज गुणवत्ता में हमेशा एक चुनौती प्रस्तुत करता है।"[८०]

गंगाप्रसाद मिश्र का सम्पूर्ण-साहित्य आठ खण्डों में प्रकाशित है। खण्ड छः और खण्ड सात, १२५६ पृष्ठों में उनकी कहानियों के हैं। यद्यपि इनकी संख्या लगभग २५० है परन्तु कुछ कहानियाँ खो जाने अथवा समय पर मिल न पाने से इस ग्रंथावली के इन खण्डों में उनकी २०३ कहानियाँ उनके बहुविधि लेखन का प्रतिनिधित्व करती हैं। 'गंगालाभ' मिश्रजी की बहुचर्चित कहानी है। यह उस समय बम्बई से प्रगतिशील लेखक संघ के मुखपत्र 'नया साहित्य' में प्रकाशित हुई थी। स्वयं गंगाप्रसाद मिश्र के अनुसार- "इसमें बड़ी आस्था अपने आत्मीय के शव को गंगाघाट पर ले जाने पर कैसा शोषण होता है, कितना उसे पीड़ित किया जाता है और मुर्दे की भी कितनी दुर्दशा होती है इसका विषाद चित्रण था। इस कहानी की उन दिनों बहुत चर्चा हुई।"[८१]

प्रेमचंद की परंपरा के प्रगतिशील होने के नाते मिश्रजी हमेशा आम जन-जीवन, उसके दु:ख-दर्द और उसकी समस्याओं आदि को अपने कथा-लेखन के केंद्र में रखा है। अपने बी०ए० के शिक्षाकाल का उल्लेख करते हुए गंगाप्रसाद मिश्र ने लिखा है- "कहानी लेखन जैसे ज्वार आया हुआ था। कोई कथानक मन में उतर जाता तो जब तक उसे लिख न डालता, चैन न मिलता। कहानी लिखने बैठता तो नींद पास न फटकती....कुछ बड़ी कहानियाँ लिखने में तो पूरी

-पूरी रात गुजार जाती।"[82]

मिश्रजी ने अपने आत्मकथ्य 'लेखक के चारो ओर' में लिखा है- 'मेरी पहली मौलिक कहानी सन् १९३४ ई० में लिखी गई।' उन दिनों अपनी एक-दो कहनियाँ 'कान्यकुब्ज' पत्रिका छपने से मिली प्रसंशा और उसके प्रभाव को अनुभव करते हुए मिश्रजी ने लिखा है- 'श्री रमाशंकर मिश्र, श्रीपति (कान्यकुब्ज कॉलेज में गंगाप्रसाद मिश्र के हिन्दी अध्यापक) की लेखनी से परिमार्जित होकर मेरी कहानियाँ कान्यकुब्ज में प्रकाशित होने लगी।' तब कहानियों के विषय या कथानक और उनके लेखन को लेकर युवक गंगाप्रसाद मिश्र की स्थिति क्या होती थी, वह लिखते हैं- "प्रारम्भ में मुझे ऐसा मालूम होता जैसे कहानियों के ये कतिपय-कथानक अभी मेरे मस्तिष्क में आए हैं। परन्तु सम्भव है कुछ दिन बाद नए कथानक मुझे न सूझ पड़े....थोड़े दिनों में मुझे वह दृष्टि प्राप्त हो गई, जिसे अपने चारों तरफ मुझे कथानक बिखरे दिखाई देने लगे और अपने आस-पास के जीते-जागते व्यक्तियों में मैं कहानियों के पात्रों को पहचानने लगा।....जीवन की सच्ची घटनाओं व व्यक्तियों में से कहानी के लिए कथानक व पात्र ढूँढने की यथार्थवादी-दृष्टि धीरे-धीरे प्रखर होने लगी और मैं इसी प्रकार की रचनाएँ करने लगा। अपने जीवन के अभाव की प्रतिक्रिया भी मेरी रचनाओं में प्रकट होने लगी। यह दृढ़ विश्वास है कि यदि बचपन में ही मैं अनाथ न हो गया होता और परिस्थिरियाँ इतनी विपन्न न होती तो न तो मेरी भावुकता ही इतनी तीव्र हो सकती थी और न मैं कहानीकार ही बन सकता था।"[83]

गंगाप्रसाद मिश्र की कहानियों का मूल्यांकन उनके कथा-लेखन की शुरुआत से ही होता रहा है। इस संबंध में गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली के तृतीय खण्ड में अनेक लेखकों, साहित्यकारों ने उनके कथा-लेखन की चर्चा-समीक्षा की है। डॉ. सुरेश अवस्थी ने लिखा है- "१९४२ में घंटों उनकी कहानियों और उपन्यासों पर चर्चा होती। धीरे-धीरे हम लोगों की इस बैठक में कृपाशंकर मिश्र, शरतचंद्र मिश्र और कृष्णनारायण कक्कड़ जुड़ते गए। बड़ी ही उत्तेजक और उल्लासपूर्ण बैठकें होती थी।"[84]

डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ ने मिश्रजी की कहानियों की चर्चा करते हुए लिखा है- "प्रेमाचंदोत्तर युग के हिन्दी कहानीकार ने श्री गंगाप्रसाद मिश्र अपने विश्वसनीय कथ्य और सादे शिल्प के कारण अपनी अलग पहचान बनाने में समर्थ हैं। यह बात और है कि प्रोपेगैंडा और साहित्य की राजनीति से दूर रहने से उनकी चर्चा कम हुई और जितना मान और यश उन्हें

मिलना चाहिए था वह नहीं मिला।....लेकिन मिश्रजी की प्रगतिशीलता किसी संकीर्ण राजनीतिक-स्वार्थ या आन्दोलन तक सीमित न रहकर विस्तृत और व्यापक है। 'अरमानों की समाधि, मौत के मुँह में, सपने की राख, बाँझ' आदि कहानियों में मिश्रजी ने उस दुनिया की तस्वीर पेश की है जहाँ अभाव, तकलीफ और विवशता का अखण्ड-साम्राज्य है। 'भैरवी' कहानी के अन्त में गयादीन ने आजादी मिलने पर जो आशाएँ व्यक्त कीं, वे साकार नहीं हो पाई।....मिश्रजी ने समस्याओं को सतह तक सीमित न रखकर, गहरे जाकर उन्हें देखा है। उनके आर्थिक-सामाजिक कारणों का विश्लेषण भी उनकी बहुत-सी कहानियों में है।....मिश्रजी के कलात्मक रचाव में यथार्थ की ऊष्मा है और जीवन की धड़कन है। जीवन को देखने की उनकी दृष्टि प्रगतिशील है। यह प्रगतिशील-दृष्टि उनकी बहुत-सी कहानियों को 'जेनुइन' बनाने में सहायक हुई हैं।"[85]

राजेंद्र सक्सेना का गंगाप्रसाद मिश्र के कथा-लेखन पर कहना है- "उनकी प्रगतिशीलता आयातित नही है, ना उस नयेपन के प्रति उसकी आस्था है, जो क्षणिक-चमत्कार पर ही मात्रा फेंकता है।"[86]

इस सिलसिले में राजेंद्र सक्सेना मिश्रजी के कहानी संग्रह 'बाँहों के घेरे गर्दन की मजबूरियाँ' की भूमिका की बहुत प्रासंगिक पंक्तियाँ अद्‌धृत करते हैं- "ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है, जबकि नई कहानी का लेबिल लगाकर चला दी जाने वाली रचना में नयापन तो आ गया, उसका कहानीपन दिवंगत हो गया।"[87]

अन्ततः राजेंद्र सक्सेना कहते हैं : 'यथार्थ के धरातल पर आदर्श की प्रतिष्ठा उनके रचनाकाल का मूल उद्देश्य रही है।'

डॉ० पुरुषोत्तम छंगाड़ी ने 'लोकसंवेदना के कुशल चितेरे : पं गंगाप्रसाद मिश्र' लेख में लिखा है- "प्रेमचंद के बाद मिश्रजी एक ऐसे प्रबुद्ध कहानीकार हैं, जिन्होंने मानवीय संवेदनाओं का मार्मिक एवं हृदय स्पर्शी चित्रण किया है।"[88]

अशोक चंद्र 'सरलता से संप्रेषित करती रचनाएँ' नामक लेख में लिखा है- "पं० गंगाप्रसाद मिश्र के रचनाकर्म में मध्य एवं निम्न-मध्यवर्गीय समाज की हलचलों के बरक्स कथाकार की प्रगतिशील-सोच की आत्मीय-जुगलबंदी बराबर देखने को मिलती है।"[89]

यहीं उल्लेखनीय है कि नई कहानी आंदोलन के बाद अमृतराय ने 'नई कहानियाँ' का संपादन करते हुए 'सहज कहानी' को रेखांकित किया था। और इस पर उनके आलोचना परक और समीक्षात्मक संपादकीय 'नई कहानियाँ' मे कई अंकों तक प्रकाशित हुए थे। अशोकचंद्र की आगे उद्धृत पंक्ति- "गंगाप्रसाद मिश्र की कहानियों को हम सुविधा के लिए 'सहज कहानियों' की संज्ञा दे सकते हैं। वहाँ शिल्प के दाँव-पेंच प्राय: नहीं है बल्कि; हैं तो अनुभूतियों का बोधगम्य एवं विश्वसनीय बयान।"[१०] मिश्रजी के सठोत्तरी-कथालेखन को अमृतराय द्वारा रेखांकित 'सहज कहानी' के अन्तर्गत स्वीकार किया जाना चाहिए।

१.७ गंगाप्रसाद मिश्र की कहानियों में लखनऊ

श्री गंगाप्रसाद मिश्र का कहानी लेखन चौथे दशक के लखनऊ में शुरू हुआ और नवें दशक के अन्तिम वर्षों में लखनऊ में ही समाप्त हुआ। १९३४ से लेकर १९५५, जो उनके कथा-लेखन का पहला हिस्सा है, इसमें उनकी अधिकांश कहानियाँ (उपन्यास भी) लखनऊ केंद्रित ही रहें हैं। उनमें लखनऊ का परिवेश, पात्र, चरित्र, वातावरण, बोल-चाल की भाषा, मुहावरे आदि लखनऊ के ही मिलते हैं। इनमें कुछ कहानियाँ लखनऊ के ग्रामीण और शहरी परिवेश की मिली -जुली हैं। कुछ कहानियाँ स्वाधीनता आन्दोलन से जुड़ी हुई हैं और कुछ राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। कुछ कहानियाँ लखनऊ के नवाबी दौर की पृष्ठिभूमि की हैं और कुछ में खेल और संगीत, खिलाड़ी, पहलवानी, संगीत के कलाकार आदि चरित्र हैं, जिनमें लखनऊ के कथक घराने के प्रसिद्ध तीन भाइयों-- अच्छन महाराज, शंभू महाराज और लच्छू महाराज को भी पात्रों के रूप में लिया गया है।

गंगाप्रसाद मिश्र के लेखन का दूसरा कालखंड लगभग २० वर्षों का वह है जो उन्होंने पूरी तरह लखनऊ से बाहर बिताते हुए कहानी-उपन्यास आदि लिखते रहें हैं। इस कालखंड के कथा-लेखन में भी उनकी कई कहानियाँ लखनऊ-केंद्रित है। इस क्रम में मिश्रजी के लेखन का अन्तिम कालखंड फरवरी १९७५ से जीवन्त पर्यंत का है, जिसमें लगभग १९८८-८९ तक वह लखनऊ में रहे और इसके बाद अपनी बीमारी के कारण या तो उनका लेखन क्रम शिथिल रहा या बीमारी और चारों बेटियों तथा बेटे के पास लखनऊ-प्रवास का। यह १९८८ से १९९८ तक लगभग एक दशक में उनका लेखन बहुत कम हुआ है। 'रांग साइड' उपन्यास गंगाप्रसाद मिश्र के लखनऊ केंद्रित तथा कथा-लेखन की अन्तिम प्रणति है, जिसके तीन हिस्सों में से अन्तिम दो हिस्से

उन्होंने चंडीगढ़ में अपनी छोटी बेटी मंजू शर्मा और दामाद डॉ० जयप्रकाश के पास रहते हुए बोलकर लिखाए थे। स्पष्टतः सन् १९७५ से लगभग १९९२-९३ तक का कालखंड उनके सृजनात्मकता का अन्तिम कालखंड है, जिसमें उन्होंने अपने पूरे लेखन का लगभग एक-तिहाई और अधिकांशतः १९८८-८९ तक नियमित लिखा है।

गंगाप्रसाद के कथा-लेखन में सन् १९३४ से १९४२ तक (इसके बाद वह सरकारी नौकरी के कारण दो कालखंड में क्रमशः हरदोई और झाँसी रहे हैं) 'महराजिन', 'आडम्बर', 'खिलौनों का दहेज', 'सरोद की गत', 'फरार', 'नर्तक', 'तबलिया' जैसी कहानियाँ हैं। १९४४ से मध्य १९४९ तक वह झाँसी रहे और फिर जुलाई १९४९ में लखनऊ आ गए। १९४२ से १९५० तक की उनकी कहानियाँ 'आदर्श और यथार्थ' तथा 'नया खून' (दोनों १९४४ में प्रकाशित) तथा 'नई राहें' में प्रकाशित हुई हैं। १९४९ से १९५५ तक गंगाप्रसाद मिश्र लखनऊ रहे। इस कालखंड की कहानियाँ उनके संग्रह 'काँटो का ताज' (१९५०) और बाद में १९६२ तक की कहानियाँ 'बाँहों के घेरे गर्दन की मजबूरियाँ' (१९६२) में प्रकाशित हैं। उनके शेष कथा संग्रह 'दूध पूत' (१९७३) और 'मेरी प्रिय कहानियाँ' (१९७८) में छपे हैं। इन चारों संग्रहों में अगर गंगाप्रसाद मिश्र की सारी कहानियों को पढ़कर देंखे तो लगभग १०० कहानियाँ ऐसी हैं जो अधिकांशतः या अंशतः लखनऊ और उसके परिवेश तथा चरित्रों पर ही केंद्रित है। ये 'कफन खसोट', 'मुसाफिर', 'काँटों का ताज', 'आनन्द के आँसू', 'हम भूल न जाएं', 'मुँह दिखाई' आदि कहानियाँ हैं।

१.८ निष्कर्ष

अमृतलाल नागर और गंगाप्रसाद मिश्र के कथा-साहित्य में सम-सामयिक लखनऊ और उसकी प्रासंगिकता को हिन्दी कथा चतुष्टय के इन दोनों प्रमुख कथाकारों- श्री अमृतलाल नागर और श्री गंगाप्रसाद मिश्र के सभी उपन्यासों और अधिकतम कहानियों लेकर चर्चा की गती है। 'एक दिल हजार अफसाने' (अमृतलाल नागर) और गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (खण्ड- छः और खण्ड- सात) की लगभग सभी कहानियों का अध्ययन करते हुए इस अध्याय में प्रयत्न किया गया है कि नागरजी और मिश्रजी के कथा-लेखन में लखनऊ का जो जन-जीवन प्रतिबिम्बित हुआ है, उसकी सम-सामयिकता और प्रासंगिकता का इस अध्याय के माध्यम से अधिकतम परिचय मिल जाए।

१.९ संदर्भ

१. संवेद-११४, मार्च २०१८, संयुक्तांक, संपादक- किशन कालजयी, पृष्ठ १८७

२. संवेद ११४, पृष्ठ १८७

३. आस्था और सौंदर्य- डॉ. रामविलास शर्मा

४. नवाबी मसनद- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ०५

५. वहीं, पृष्ठ ०५

६. बूँद और समुद्र- अमृतलाल नागर, पृष्ठ ०५

७. वहीं, पृष्ठ ०५

८. संवेद ११४, पृ. १७७

९. संवेद ११४, पृ. १७९

१०. संवेद ११४, पृ. १७९

११. संवेद ११४, पृ. १८२

१२. संवेद ११४, पृ. १८४

१३. संवेद ११४, पृ. १८४

१४. अमृतलाल नागर- श्रीलाल शुक्ल, पृ. ४५, ४६

१५. अमृतलाल नागर व्यक्तित्व और रचना संसार-मधुरेश, पृ. ७१, ७२

१६. अमृतलाल नागर का उपन्यास साहित्य-प्रकाशचंद मिश्र, पृ. १२४

१७. अमृतलाल नागर के उपन्यासों का समाजशास्त्री अध्ययन- डॉ० आशिक मिश्र, पृ. ७३

१८. संवेद ११४, पृ. १५५,१५६

१९. अमृतलाल नागर- श्रीलाल शुक्ल, पृ. ७८

२०. अमृतलाल नागर श्रीलाल शुक्ला, पृष्ट ७९

२१. अमृतलाल नागर रचनावली की भूमिका में उद्धृत अंश, खण्ड १०, पृ. ०१

२२. वही, पृ. ०१

२३. अमृतलाल नागर रचनावली, संपादक- डॉ. शरद नागर, 'निवेदनम्' पृ. ०५

२४. अमृतलाल नागर- श्रीलाल शुक्ल, पृ. ८३

२५. अमृतलाल नागर, श्रीलाल शुक्ल, पृ. ८४

२६. वही, पृ. ८४

२७. संवेद ११४, पृ. १९५

२८. संवेद ११४, पृ. १९५

२९. भूमिका एक दिल हजार अफसाने की भूमिका, पृष्ठ ०६

३०. वही, पृ ०६

३१. एक दिल हजार अफसाने के फ्लैप से

३२. संवेद ११४, पृ. २४६

३३. वही, पृ. २५०

३४. वहीं, पृ. २५०

३५. वही, पृ. २५०, २५१

३६. वही, पृष्ठ २५१

३७. वही, पृष्ठ २६०

३८. चकल्लस की भूमिका, लेखक अमृतलाल नागर, पृ. ०७

३९. संवेद ११४, पृ. २७८, २७९

४०. गंगाप्रसाद मिश्र ग्रन्थावली, खण्ड ३, पृ. २८

४१. वहीं, पृ. २८

४२. वही, पृ. २९

४३. वही, पृ. २९

४४. खण्ड- ३, पृ. ३८

४५. खण्ड- ३, पृ. ६८

४६. वही, पृ. ७०

४७. खण्ड- ३, पृ. ७३

४८. खण्ड- ३, पृ. ७५

४९. खण्ड- ३, पृ. ७६

५०. उपन्यास की भूमिका से, गगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, खण्ड- ४, पृ. २८६

५१. खण्ड- ३, पृ. ३२

५२. खण्ड- ३, पृ. ५४

५३. खण्ड- ३, पृ. ५५

५४. खण्ड- ३, पृ. ५६

५५. खण्ड- ५, पृ. १७

५६. खण्ड- ५, पृ. १७,१८

५७. खण्ड- ३, पृ. ६५

५८. खण्ड- ३, पृ. ६५

५९. खण्ड- ३, पृ. ६६

६०. खण्ड- ५, पृ. ९४

६१. खण्ड- ५, पृ.९६

६२. खण्ड- ५, पृ. ९८

६३. वही, पृ. ९८

६४. खण्ड- ३, पृ ९९

६५. वही, पृ. १००

६६. खण्ड- ५, पृ. २६८

६७. वही, पृ. २६८

६८. 'बालसाहित्यालोचन' : अभिनव-हस्तक्षेप, बन्धु कुशावर्ती, पृ.८६

६९. वही, पृ.८७

७०. वही, पृ. ८८

७१. वहीं, पृ. ९६

७२. रांग साइड, पृ. ४३२-४३३

७३. गंगाप्रसाद मिश्र ग्रन्थावली खण्ड- ५, पृ. ४३२

७४. गंगाप्रसाद मिश्र ग्रन्थावली खण्ड- ३, पृ. १६६-१६७

७५. वहीं, पृ. १६७

७६. वही, पृ. २०९

७७. वही, पृ. २१०

७८. गंगाप्रसाद मिश्र ग्रन्थावली खण्ड- ३, पृ. २१०

७९. वही, पृ. २१०,२११,२१२

८०. विस्मृत के रहगुजर- अशोक चंद्र, पृ. ४१, ४२, ४३

८१. खण्ड- १, पृ. १६३

८२. गंगाप्रसाद मिश्र ग्रन्थावली खण्ड- १, पृ. १६०

८३. गंगाप्रसाद मिश्र ग्रन्थावली खण्ड- ३, पृ. १७६, १७७